वैराग्यमन्दाकिनी



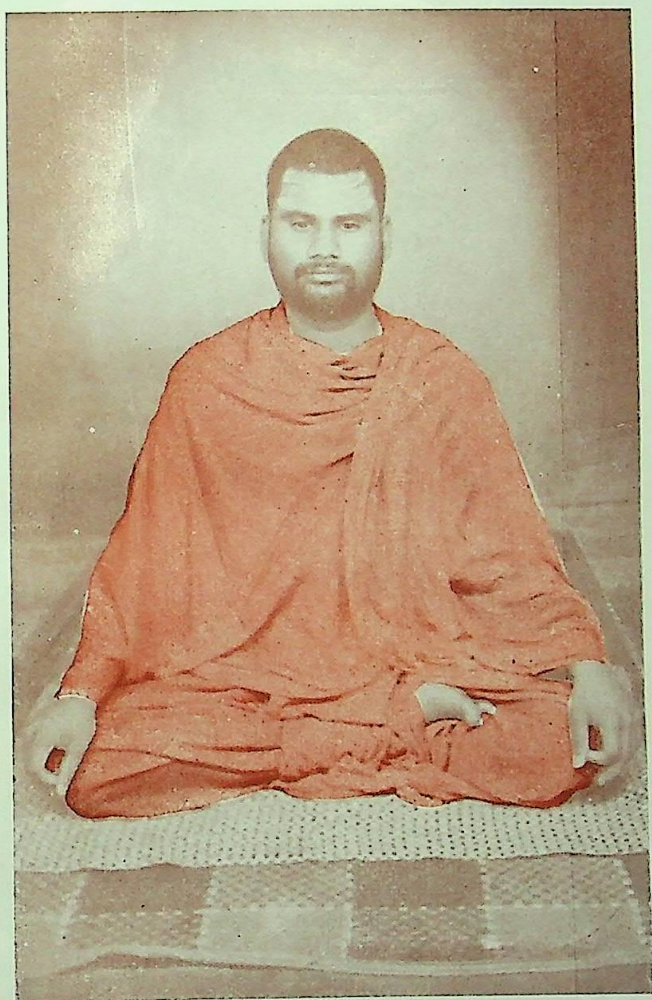
रचयिता

श्रीमङ्गलार्णव (प्रसिद्ध काशिकानन्द) यतिः

प्रकाशक :—
डॉ· अरुणोदय नटवरलाल जानी
जमखाना पोळ, सुलतानपुरा,
वडोदरा.

मुद्रक :—
चन्द्रकान्त भूषणदास साधु
चेतन प्रकाशन मंदिर (प्रि. प्रेस)
' चेतनधाम ' शीयाबाग, वडोदरा.

श्रीजयमङ्गलार्णव (काशिकानन्द) यतिः



अवलोकितशास्त्राम्बुधि--गम्भीरतलोऽपिजलधिगम्भीरः ।
प्रमितगुणाधिष्ठानोऽप्यमितगुणो जयति मङ्गलार्णयतिः ॥

स्वागत

पू. स्वामिजी श्रीकाशिकानन्दजी महाराज विरचित वैराग्यमन्दाकिनी का स्वागत करता हुआ मैं अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता हूँ और अपने को अत्यन्त धन्य समझता हूँ।

अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका में स्वामिजी ने वैराग्यमन्दाकिनी की आवश्यकता एवं उपादेयता अच्छे ढंगसे बताई है। भूमिका संस्कृत में होने के कारण संस्कृत से अनभिज्ञ लोगों को इसमें वैराग्य का प्रतिपादन कैसे किया गया है यह बतलाने के लिये प्रारम्भ में उसी का सारांश यहां दे रहा हूँ।

"मानवजीवन का परमपुरुषार्थ मोक्ष है ऐसा प्रतिपादन करनेवाले वेद साथ ही साथ संसार की असारता और अनुपादेयता भी सिद्ध करते हैं। भिन्न भिन्न दर्शनों के रचयिता ऋषि-मुनियों ने भी संसार को अश्रेयस्कर बताया है। संसार की हरेक चीज दुःखमय है अतः इसका त्याग करना चाहिये ऐसा सिद्धान्त योगदर्शनने भी प्रस्तुत किया है। तथापि संसार की हरेक चीज का त्याग करने में कोई समर्थ नहीं होता है। हां, संसार की समस्त वस्तुओं से राग हटा देना शक्य है। अतः इस राग-त्याग को ही संसारत्याग मान लिया जाय तो मनुष्यजीवन का परमपुरुषार्थ वैराग्य ही है ऐसा अर्थ अपने आप निकलता है।

इस वैराग्य की चार भूमिकाएँ शास्त्र में बतलाई गई हैं। (१) यतमानसंज्ञा (२) व्यतिरेकसंज्ञा (३) एकेन्द्रिय और (४) वशीकारसंज्ञा.

(१) यतमानसंज्ञा :—संसार की स्थूल और सूक्ष्म, हरेक वस्तु में मनुष्य का राग रहता है। किन्तु विवेकबुद्धि से 'संसार असार है' 'संसार दुःखमय है' इस प्रकार का चिन्तन करके रागको हटाने के लिये इस अवस्था में प्रयत्न किया जाता है। संसार के असारत्वादि का निरन्तर चिन्तन करने का यहां प्रयत्न होने से इस अवस्था को यतमानसंज्ञा कहते हैं।

(२) व्यतिरेकसंज्ञा :—सतत उक्तप्रकार की चिन्तनपरम्परा से पुत्र, मित्र, कलत्र, इत्यादि स्थूल विषयों से रागकी निवृत्ति होती है। किन्तु शब्दादि सूक्ष्म विषयों में वह रहता है। इस

प्रकार स्थूल कषाय पक्व होते हैं और सूक्ष्म कषाय अपक्व ही रह जाते हैं। अब इन अपक्व कषायों का पक्व न होने का कारण सूक्ष्म-बुद्धि से ढूँढ़ कर उसको पकाने के लिये और भी उपायों का अवलम्बन करने की अवस्था की व्यतिरेकसंज्ञा है। यह संज्ञा देने का कारण यह है कि इस में स्थूल पक्वकषायों से सूक्ष्म अपक्व कषायों का व्यतिरेक (अलगाव) होता है।

(३) एकेन्द्रियसंज्ञा :— स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार की वस्तुओं से राग दूर हो जाता है किन्तु उस राग का संस्कार मनके ऊपर अवश्य रहता ही है, क्यों कि यह रागसंस्कार इतनी आसानी से नहीं मिट पाता। प्रत्युत समय आने पर यह रागसंस्कार कोई अन्य इष्ट वस्तुओं पर फिर भी प्रसृत होकर मन को मोहित कर सकता है। राजर्षि भरत इसके उदाहरण है। उन्होंने स्थूल और सूक्ष्म विषयों से राग हटा दिया था। फिर भी उसका संस्कार प्रसृत होकर एक मृगपोतक पर चिपक गया। और तीसरी अवस्था से वे च्युत हो गये (हां, तो भी अपने प्रयत्नों से वह तृतीय जन्म में सफल हो गये यह भूलना नहीं चाहिये।) इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म वस्तुओं का राग नष्ट होने पर भी राग का संस्कारमात्र जब मनरूपी एक इन्द्रिय में रहता है उस अवस्था को एकेन्द्रियसंज्ञा कहा गया है।

(४) वशीकारसंज्ञा :—जब दृष्ट और श्रुत, स्थूल और सूक्ष्म सभी विषयों से तृष्णा दूर हो जाय, तथा राग के समस्त संस्कार भी ऐसे नष्ट हो जाँय कि उनका फिर प्रसरण हो ही नहीं; ऐसी स्थिति को वशीकारसंज्ञा कहते हैं। उसके दो प्रकार हैं: (क) अपरा और (ख) परा.

(क) अपरा :—इस अवस्था में विषयराग नहीं रहता, किन्तु विषयसंस्कार अवश्य रहते हैं। इस रागसंस्कार का फिर प्रसरण होने की शक्यता न होने पर भी इसकी उपस्थिति तो रहती है। इस लिये इसको अपरा वशीकारसंज्ञा कहा है।

(ख) परा:—आगे निर्विचारवैशारद्य से अध्यात्मप्रसाद-स्वरूपिणी प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इसके बाद ऋतंभर प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इस अध्यात्मप्रसादस्वरूपिणी प्रज्ञा से किंवा तत्प-

आह्लाविनी ऋतम्भरप्रज्ञा से उत्पन्न होनेवाले संस्कारों से जब अन्य संस्कारों का प्रतिबन्ध होता है; याने कि सभी रागसंस्कारों की उपस्थिति भी नहीं रहती तब सर्वबन्धन नष्ट होकर परम वैराग्य उत्पन्न होता है।

[सारांश यह हुआ की प्रथम अवस्था में असारत्वादि चिन्तन का यत्नमात्र होता है; दूसरी में स्थूल वस्तु में राग का त्याग, तीसरी में सूक्ष्म वस्तु में राग का त्याग और चतुर्थ में रागसंस्कार का भी नाश होकर परम वैराग्य सिद्ध होता है।] यही वैराग्य कैवल्य लक्षण मोक्ष की प्राप्ति का परम कारण है। इसीको ही परा वशीकारसंज्ञा कहा है। इस प्रकार का वैराग्य भक्ति में भी सहायक है। " न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यम् " इत्यादि श्रीमद्भागवत के श्लोक में बताया है कि ' भक्त न तो इन्द्रासन की इच्छा करता है न तो पारमेष्ठ्य की कामना रखता है '। इससे सिद्ध होता है कि वैराग्य के विना पराभक्ति का भी उदय नहीं होता है।

इस वैराग्यमन्दाकिनी के लहरीसंज्ञक तीन विभागों में उपर्युक्त चतुर्विध वैराग्य का प्रतिपादन करने के लिये ' अष्टक ' ' दशक ' इत्यादिरूपों से अर्थ का विवेचन किया है।

पहले वैराग्य विषय का उपक्रम (श्लो. १–५) करके जगत की अनिर्वचनीयता (६–१३) और असारता (१४–२१) दिखला कर जन्मफलदशक (२२–३१) से परमात्मप्राप्ति के उपाय का अवलम्बन करना चाहिये यह बताया। बाद प्रथम लहरी के अन्ततक भोग (३२–३९) धन (४०–५२) यश (५३–६१) इत्यादि की दुःखरूपता दिखलाकर सांसारिक वस्तुओं की परिहेयता प्रतिपादित की गई है।

आन्तरिक भावों का उपपादन जिसमें प्रधान है ऐसी द्वितीय लहरी में मोह आदि की हेयता और विवेक आदि की उपादेयता दिखाई गई है।

तृतीय लहरी में वैराग्य उद्भावन करने में उपयुक्त सच्चे उदाहरण आदि से फल का प्रतिपादन किया गया है। "

इस वैराग्यमन्दाकिनी काव्य में काव्यगुणों की कोई कमी नहीं है। सर्व प्रथम अनुप्रासादि शब्दालंकार से विभूषित सुललित पदावली श्रोताओं के कर्ण को आह्लादित करती है। साथ साथ

प्रसाद और माधुर्य गुण से भी यह अलंकृत है। प्रायशः सभी श्लोकों का अर्थ इसको पढ़ने से, बिना कष्ट ही, प्रतीत होता है। स्वामिजी की विद्वत्ता और दार्शनिकता भी इस में काफी दिखाई देती है। और " ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्कचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया " इस श्रीहर्ष की उक्त्यनुसार स्वामिजी ने भी कहीं कहीं ' ग्रन्थग्रन्थि ' का निर्माण किया है। उदाहरणार्थ अन्तिम श्लोक को पढ़िये। भर्तृहरि के वैराग्यशतक जैसा यह काव्य संस्कृत-साहित्य में अवश्य अपना स्थान लेकर रहेगा। अर्वाचीन संस्कृतसाहित्य के क्षेत्र में स्वामिजी का यह प्रदान अत्यन्त स्वागतार्ह है, और इस लिये स्वामिजी का उपकार मानना चाहिये।

इस काव्यने अपना प्रभाव तो प्रकाशित होने से पहले ही दिखा दिया है। स्वामिजी के मुखारविन्द से प्रसंगवशात् इस काव्य के श्लोक सुनते सुनते एक सद्गृहस्थ ने जब " उत्तुङ्गीकुरुते शिरोऽरुणयते नेत्रे...(पृ. २२ श्लो. ४५) इत्यादि श्लोक सुना, तब वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने पुस्तक के प्रकाशन के लिये द्रव्य की सहायता दी, इतना ही नहीं बल्कि ' यशोष्टक ' (पृ. २६-३२) में प्रतिपादित अर्थको सार्थक करते हुए स्वामीजी से प्रार्थना की कि द्रव्य सहायता के बारे में उनका नामनिर्देश भी न किया जाय। इसी तरह यह ग्रन्थ संसारीओं को मार्गदर्शन कराता रहे ऐसी परमात्मा से मेरी प्रार्थना है।

सांसारिक दुःखों से परितप्त मानवों के त्रिविध तापको दूर करनेवाली परमपावनी मन्दाकिनी की तरह संसारीओं का उद्धार करनेवाली इस वैराग्यमन्दाकिनी का मैं सभी संसारीओं की ओर से स्वागत करता हूँ और अभिलाषा करता हूँ कि,

" विजयतां वैराग्यमन्दाकिनी "

डॉ. अरुणोदय नटवरलाल जानी
एम. ए.; पीएच. डी.; काव्यतीर्थ.
संस्कृत के प्राध्यापक,
आर्ट्स फॅकल्टी,
म. स. युनिवर्सिटी, बड़ौदा.

किञ्चिद्वक्तव्यम् ।

नमः समस्तभूतानां हेतवे वृषकेतवे
रागादिघोरमकरमोहाकूपारसेतवे ॥

निरतिशयामन्दानन्दसन्दोहमपुनरावृत्तिलक्षणं मोक्षमेव परमपुमर्थं सकलजनस्यार्थनीयमावेदयता वेदेन दर्शितमेव संसारस्यासारत्वं स्फुटतरमनुपादेयत्वं च। निःश्रेयससरणिदर्शनानि च दर्शनान्युपस्कुर्वद्भिरश्रेयस्कर एवानुभवपरमप्रमाणैः प्रमाणितः संसारोऽयं मुनिजनैरपि तपोबलावलोकितसकलभुवनवस्तुतत्त्वस्वरूपैः। समस्तानामपि जगतीगतवस्तूनां "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" इत्यादिवचनैर्दुःखरूपतां "हेयं दुःखमनागतमि" त्यादिवचनैर्हेयरूपतां च विस्पष्टमुट्टङ्कयद्भिर्योगरहस्यविद्भिर्दर्शितामपि सकलसंसारहेयतां नैव चरितार्थयितुं समर्थः कोऽपि च समस्तवस्तुपरित्यागेन। न हि किल सलिलमुज्झितुं शतकोटिव्यापारैरपि पारयेयुर्वारिलवाः सलिलभावभाजः। नैव च तथैव शरीरेन्द्रियभुवनभवनवनगिरिकन्दरादिकमखिलमपि संसारमध्यगतमतिगन्तुमन्ततः क्षमते क्षमातलमिदमधिवसन् संयमिनामपि वरः। तस्मात् संसारगोचररागपरित्याग एव संसारत्याग इत्यस्मिन्नर्थे समुपस्थिते वैराग्यमेव संपादनीयं परमपुमर्थमर्थयद्भिरित्येव पर्यवसितार्थः संसारहेयतापरवचनानामिति सिध्यति। समर्थयति चैतमर्थं "शान्तो दान्त" इत्यादिकं वेदवचनमपि कैवल्यनिदानात्मयाथात्म्यदर्शनकारणतां वैराग्यावान्तरभेदलक्षणानां तत्कार्यरूपाणां वा शमदमोपरमतितिक्षादीनामाचक्षाणम्।

अस्य च वैराग्यस्य चतस्रः संज्ञाः शास्त्रेषु प्रतिपादिताः। यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा चेति। तत्र संसारस्यासारतां दुःखरूपतां च विवेकतोऽवगत्य ततस्तदभिनिवेशनिवेशितविषयरागपरिहारचिकीर्षया तदसारतादिनिर-

न्तरपरिचिन्तनं प्रथमा प्रयतमानावस्था यतमानसंज्ञा। अनवरतपरिशीलिताभ्यासपरम्परापराकृतचित्तक्षोभस्य केषुचन कषायेषु पक्वेषु केषुचन चापक्वेषु सत्सु सूक्ष्मतरधिषणया तेषां विवेकपुरःसरमपक्वकषायाऽपरिपाककारणगवेषणापुरःसरं तत्परिपाकाय विशेषत उपायावलम्बनं व्यतिरेकसंज्ञा नाम द्वितीया पक्वेभ्यो व्यतिरिच्यापक्वानां विश्लेषणकरणलक्षणा। सेयं निर्वेदपदवीविनिहितपदानामनुभवपथमारोहति महतां– "त्यक्तो मया पुत्रमित्रकलत्रबन्धुजनगोचरो मोहान्धतमसनिपतननिदानवैषयिकरागस्तावत्; संप्रति प्रतिकर्त्तव्यः शब्दस्पर्शाद्यकिंचनविषयजनित क्षणिकसुखविषयकराग" – इत्येवमादिभावनाभावितशेमुषीजुषां विदुषाम्। एतदुक्तं भवति – स्थवीयसां पुत्रमित्रकलत्रादिविषयाणां रागस्योपमर्दनेऽपि तदपेक्षया सूक्ष्माणां शब्दादिविषयाणां रागः सहसा नोपमर्द्यत इति तत्र विशेषतो यत्नः क्रियत इति रागः किल विनियन्त्र्यमाणोऽप्येकत्र निकायमकामयमानस्यापि लभत इत्यप्यनुभवपथारूढमेव निगूढतत्त्वविचारणचणानां मनीषिणाम्। यथा दारसोदरादिगोचरमोहस्वरूपरागतः परागतमपि चेतस्तत्संस्कारसमपिहितं कमपि हितं शिष्यादिकमुपलभ्य लब्धप्रसरेण तेन निरूढसंस्कारेण मूढभावं भजते; यथा वा लौकिकसकलविषयपरिहारेऽपि शास्त्रादिषु वादविवादजनितानियतसुखेषु बिषज्जमानं तदीयवासनावासितं तेष्वेव निमज्जतीति। स्मर्यते च तदिदं त्यक्तसकलैषणस्यापि, स्वीकृतगहनकानननिवासस्यापि, निरन्तरानुष्ठिततपोनिष्ठासमासादितमानसस्थैर्यस्यापि भरतस्य राजर्षेर्ऋष्यपोतके समुद्भूतदुरपाकररागावेशस्य। सेयमेकेन्द्रियसंज्ञा नामैकस्मिन्निन्द्रिये मनसि संस्काररूपेण स्थितस्य रागस्य संभाव्यमानसामयिकप्रसरस्य समकालभवा तृतीया। दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य च नष्टसकलरागसंस्कारस्याऽसंभाव्यमानसामयिकप्रसरस्य वशीकारसंज्ञा चतुर्थी। सापि परापरभेदाद् द्विधा। तत्रापरा विषयरागसंस्काराऽसमानकालिकी सत्यपि विषयसंस्कारकालिकी। यदा पुनर्निर्विचारवैशारद्यसद्योजाताध्यात्मप्रसादस्वरूपया तादृशप्रसादानन्तरभाविन्या वा ऋतंभरप्रज्ञया समुत्पन्न-

संस्कारेणान्यसंस्कारा: प्रतिबध्यन्ते तदा पुरुषख्यातिनिबन्धनं सर्वबन्धनहरणं परं वैराग्यमुत्पद्यते – "तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यमि" ति सूत्रनिर्दिष्टम्। इदमेव च कैवल्यलक्षणमोक्षपरमकारणमिति हि वेदविदो वदन्ति। सा चेयं परा वशीकारसंज्ञा।

अत्र केचन प्रेमरसास्वादनरसिका भक्तिभावगौरवप्रतिष्ठापनपराः प्रत्यवतिष्ठन्ते – नीरसमिदं वराग्यं नीरसमेव च नितरां कैवल्यमपि। को नाम तदिदमभिलषतु मतिमानूहापोहकुशल इति प्रेमलक्षणा भक्तिः परमपुरुषार्थरूपा लोकैरर्थनीया सेवनीया चेति यया च जीवनमपि परमसरसं स्यादिति। तत्र ते प्रष्टव्याः – यन्नीरसशब्दान्तर्गतरसपदार्थः क इति। यदि वैषयिकरसस्तदा सेवतां कामं कामानेव भवान् सन्ततविषयैकचिन्तनयेति भक्ति कुतः कलुषीकरोति भगवद्विषयाम्। विषयेभ्य एव वैषयिकरसप्राप्तिसंभवात्। यदि च परमात्मलक्षणो रसो "रसो वै स" इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितस्तदा "न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौममि" त्यादि (११-१४-२४) भागवतवचनाद् दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्ण्यलक्षणवैराग्याविनाभावित्वाद् भक्तेः कथं नीरसत्वं वैराग्यस्य ?! "यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे। विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकः" (६-१२-२२) "निष्किंचना मय्यनुरक्तचेतसः शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः। कामरनालब्धधियो जुषन्ति यत् तन्नैरपेक्षं न विदुः सुखं मम" (११-१४-१७) "मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्" (१०-२९-३१) "मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः। मयात्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद्विषयात्मनाम्" (११-१४-१२) "विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते। मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते" इत्यादीनि च शतशो भागवतवचनानि भक्तेर्वैराग्याऽविनाभावित्वं व्यञ्जयन्ति। तस्माद्वैषयिकरसपरित्यागासमर्था एव कदर्थितसकलशास्त्रार्था वैराग्यं विनिन्दन्तीति निश्चितं भवति। न खलु परमात्मानुरागपरित्यागः क्वचनापि वैराग्यप्रकरणेऽभिहितो

भवति । प्रत्युत " भवन्नाम स्वामिन् शिवशिवशिवेत्येव कलये (पृ. ८७) " " मानेन किं.........जातं न चेन्निजमनो हृतरागपूगं श्रीचन्द्रचूडचरणाम्बुजचञ्चरीकम् (पृ. ५९) " इत्येवमादिकमेतद्ग्रन्थीयं वचनं " रे कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारितैः............चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्त्तते " इति भर्तृहरीयवैराग्यशतकस्थं च भगवदनुरागमेव वैराग्यवतामुपोद्बलयति । " विषयवितृष्णस्ये " ति सौत्रं पदमपि विषयत एव वैराग्यं बोधयति न तु भगवतः । तस्मान्मूढा एव निगूढविषयरागवासनावासितमनसो वैराग्यमभिद्रुह्यन्ति । यच्च कैवल्यमपि नीरसमिति भणितं तदप्यसत् । रसरूपपरमात्मभावापत्तेर्नीरसत्वानुपपत्तेः । ननु शर्करारसास्वादनमेव जनानामभिमतं न तु शर्करास्वरूपापत्तिरेवमेव भगवद्रसास्वादनमेव सचेतसामभिमतं भवितुमर्हति न तु भगवत्स्वरूपापत्तिः । स च मूढमतिरेव शर्करास्वरूपमापित्सुरिव भगवत्स्वरूपापत्तिमभिलषन्नपीति चेद् ? धन्यो भवान् दयनीयश्च यद् भगवन्तमेव मूढमतिं ब्रवीति । हन्त तावद् भगवान् भगवत्स्वरूपभाङ् न वा । यदि नास्ति तदा व्याघातः । यद्यस्ति तदा भगवत्स्वरूपेणावस्थानं मूढमतिलक्षणं त्वयैवोक्तमिति भगवतो मूढमतित्वं कथं वार्येत ? । अथ भगवत्स्वरूपेण स्थितो भगवान् न मूढः किन्तु तत्स्वरूपापन्नो जीव इति मनुषे; तदपि न; भगवत्स्वरूपापत्त्यनन्तरं जीवत्वविरहात् । अथ भक्तरसेन भगवतस्तुष्टिरिति न मूढमतित्वं प्रसज्यते भगवत इति चेद् ? भगवत्स्वरूपापन्नस्यापि तदेवोत्तरं, निरपेक्षत्वाच्च भगवत्तुष्टेरित्यलं मूर्खैः सह बहुलालापेन । एतदप्यभ्युपेत्योक्तम् । प्रकृतग्रन्थे तु केवलं विषयवैराग्यमेव मुख्यरूपेण प्रतिपादितमिति न द्वैताद्वैतकलहमध्ये केनचित् पतनीयम् ।

अस्यां च वैराग्यमन्दाकिन्यां त्रिषु खण्डेषु लहरीपदाख्येषु यथोक्तं चतुर्विधं वैराग्यं निदर्शयितुमुद्भावयितुं चाष्टकदशकादिरूपेणार्थविवेचनं कृतम् । तत्र प्रथममुपक्रमविधया वैराग्यविषयमुपक्षिप्य प्रथममेव जगदनिर्वाच्यत्वं संसारमोहपरिहारौपयिकाविरतसंपादनीयभावनास्पदभूतं प्रदर्श्य जगदसारत्वदर्शनपुरःसरं

जन्मफलदशकेन परमात्मप्राप्त्युपायावलम्बनीयता प्रतिपादिता। ततः परमालहरीसमाप्ति भोगदुःखतादिप्रदर्शनेन प्रापञ्चिकवस्तु-परिहेयतैव प्रपञ्चिता। द्वितीयस्यां लहर्यामान्तरभावोपपादनप्रधानायां मोहादीनां हेयत्वमुपादेयत्वं च विवेकादीनां प्रदर्शितम्। वैराग्योद्भावनौपयिकभूतार्थोदाहरणाविना फलजननप्रधाना च तृतीया लहरी। प्रासङ्गिकविवेचनायां क्रियमाणायां क्वचिल्लहरीविषयसांकर्यं नद्यादिषु लहरीसांकर्यस्य वहुधा दृष्टत्वाददोषावहमिति नैव प्रत्यगण्यतानुपयुक्तत्वाच्चाधिकसन्धिबन्धनादेर्वैराग्योद्भावने।

अत्र च पूर्वाचार्यैर्भर्तृहरिशंकरभगवत्पादप्रमुखैर्वैराग्यविषयेऽस्तोकममोघसुललितप्रसन्नगम्भीरगीर्भिर्विवेचितं यद्यपि विद्यते तथापि यथासमयं स्वीयहृदये समुद्भवन्तं भावमन्यसमयेऽप्यनुवर्त्तयितुकामेनाविस्मरणायैव स्वमनस्तोषायैव च मयोपनिबद्धेयं वैराग्यमन्दाकिनी। अत एव सुपूर्वमेव समापितोपनिबन्धामपि न सुललितपदान्तरावलीपरिगुम्फितां विधातुमविलम्बितमेव प्रकाशपदवीमारोहयितुं च विशेषतः प्रायतिषि। भविष्यति हि लोकानामेवं चेतसि यदयमप्रतिलब्धतीव्रतरवैराग्य एव वैराग्योपदेशं परोपदेशे पाण्डित्यमिति न्यायेन विधातुमीहत इति प्रकाशितामिमां विलोकयताम्। प्रसङ्गवशेन कदाचिदुदाहृतानेतत्पुस्तकान्तर्गतद्वित्रश्लोकानाकर्ण्य सञ्जातकुतूहलेनानुजातजिज्ञासेन केनचिन्मनीषिणा एतन्मन्दाकिनीस्थयशोष्टकाभिहितार्थसार्थकयता सता विहितार्थव्ययेन स्वनामप्रकाशनेऽकृतानुमतिनव प्रकाशमियं नीतेति एतदुपर्युपक्षिप्यमाणतथाविधाक्षेपाणां स एवोत्तरदायित्वमावक्ष्यति लप्स्यते वा स एवैतत्पुस्तकप्रकाशनेन यस्य कस्यचिद्विदुषःसंतोषश्चेज्जातस्तर्हि तत्प्रयुक्तश्रेयसश्च पात्रतामिति।

सुधियामनुविधेयः काशिकानन्दः।



वेदान्तमन्दारकलिकान्तर्गतं

सोऽहं दशकम्

समस्तेषु वस्तुष्वनुस्यूतरूपोऽप्यशेषैर्विशेषैरनामृष्टकायः ।
अखण्डैकनित्यापरोक्षस्वभावः सदानन्दचिन्मूर्त्तिरोंसोऽहमस्मि ॥

विशुद्धेऽपि वस्तुन्युपाक्षावृताक्षः समारोपयेत्काचगं मेचकादि ।
जगन्मायिकं यत्र मायावृताक्षः समारोपयेदेवमोंसोऽहमस्मि ॥

चलच्चित्रगाश्चित्रभान्वादयो न प्रदीपं समुद्भासयन्तेऽनुभान्तः ।
तथा सूर्यचन्द्रादयोऽमी यमिन्द्रं जगद्भासकं देवमोंसोऽहमस्मि ॥

चलच्चित्रसर्पं विलोक्यापि सर्पं यथा कल्पयेदल्पबुद्धिस्तु रज्जौ ।
अनाद्यैः प्रपञ्चभ्रमैश्च प्रपञ्चं विचित्रञ्च यत्रैवमोंसोऽहमस्मि ॥

यथा सैंहिकेयः स्फुरेदिन्दुबिम्बे घटत्वं घटे व्यज्यते व्यापि यद्वत् ।
तथाऽखण्डवृत्तावभिव्यज्यते यो जगद्व्यापको विष्णुरोंसोऽहमस्मि ॥

प्रकाशस्वरूपेऽपि घोरान्धकारं दिवान्धो जगच्चक्षुषीक्षेत यद्वत् ।
तथा ज्योतिरात्मन्यनिर्वाच्यमाया-तमोविभ्रमो यत्र सोऽहं शिबोऽस्मि ॥

घटीयोऽपि भेदो घटाद्भिन्नरूपो न भेदान्तरं तत्र भेदप्रयोक्तृ ।
तथा यस्य मायापि मायान्तरं सं-घटेतान्तरेणान्तरात्मास्मि सोऽहम् ॥

न हि व्योम्न्यमत्रादिसादृश्यलेशो न वा चाक्षुषः पौरुषश्चापि दोषः ।
कटाहभ्रमोऽयं तथाप्येव तद्वत् प्रपञ्चभ्रमो यत्र सोऽहं परोऽस्मि ॥

यथा शर्करालेशसंपर्कहेतोः स्युरन्नानि मिष्टानि नानाविधानि ।
यदानन्दमात्रां गृहीत्वा तथार्थाः सुखव्यञ्जकाःस्युः परात्मास्मि सोऽहं ॥

अजोऽहं निरीहो निराकाररूपः परोऽहं सदानन्दचिन्मात्रमूर्त्तिः ।
शिवोऽहं जगद्व्यापकोनाद्यनन्तः सदद्वैतरूपोऽहमोंसोऽहमात्मा ॥

इति श्रीमङ्गलार्णवयतिविरचितायां वेदान्तमन्दारकलिकायां
सोऽहं दशकम् ।

श्रीमङ्गलार्णव(प्रसिद्धकाशिकानन्द)यतिविरचिता

वैराग्यमन्दाकिनी

प्रथमा लहरी

(उपक्रमपञ्चकम्)

गाङ्गैरुत्तुङ्गवीचीकलहसमुदितैरुच्छलद्भिः समन्ता-
न्मुक्ताहाराभिरामैः प्रयतकणगणैः पावयन् सर्वभावान् ।
विन्यस्तध्यानमुद्रः शममधिगमयन् प्राणिनः संनिधिस्थान्
देवः कन्दर्पदर्पज्वरभरशमनः शंकरो नः पुनातु ॥१॥

वैराग्य मन्दाकिनी के प्रारम्भ में मदनान्तक अत एव वैराग्य प्रदान करने में परम समर्थ भगवान् शंकरजी की स्तुति करते हुए उनसे मन, वाणी और शरीर की पवित्रता के लिये प्रार्थना करते हैं—

भगवान् शंकरजी के मस्तक में पतितपावनी गंगा विराज रही है। उससे उठी हुई तरंगें इस प्रकार आपस में टकरा रही हैं कि, मानो वे कलह कर रही हैं। उन टकराती हुई तरंगों से उठकर चारों ओर उछलते हुए मोती के हार के समान शोभायमान जलकणों से भगवान् शंकरजी आसपास के सभी प्राणीवर्ग को पवित्र कर रहे हैं। शंकर भगवान् ध्यानमुद्रा लगाये बैठे हैं, और उस ध्यानमुद्रा से समीप में वर्तमान समस्त प्राणियों के अंदर शांति का संचार कर रहे हैं। कामदेव के ज्वर सदृश दर्प को शमन करनेवाले, कल्याणकारी, ज्ञान प्रकाश स्वरूप वे भगवान् शंकर हमें पवित्र करें ॥ १ ॥

सस्यवज्जायमानानां बृंहतामनुनश्यताम् ।
पश्यन्तं कौतुकं कंचित् साक्षिणं प्रणमामि तम् ॥ २ ॥

वैराग्योद्दीपनार्थ जीवन की क्षणिकता दिखाते हुए "सस्यमिव पच्यते मर्त्यः सस्यमिवाजायते पुनः" इस श्रुति का अर्थ हृदय में रखकर मंगलरूप से साक्षीरूप परमात्मा को प्रणाम करते हैं–

हम हमेशा अनुभव करते हैं कि, छोटे छोटे पौधे उत्पन्न होते हैं; कुछ दिन में बढ जाते हैं और उसके अनन्तर नष्ट हो जाते हैं। हमारे लिये यह एक कौतुकमात्र है, कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं है। इसी प्रकार हमारा भी उत्पन्न होना, बढना और नष्ट होना, जिसके लिये एक कौतुकमात्र है, उस साक्षीरूप परमात्माको मैं प्रणाम करता हूं ॥ २ ॥

भावं भावं भवति तरसोन्मीलितस्थूलभावं
स्फायं स्फायं पृथुलमतुलं बोभवीति क्षणेन ।
क्षायं क्षायं महितमभितः पश्यतो नश्यतीदं
कालाधीनं विपरिणमते सर्वमेवं क्रमेण ॥ ३ ॥

वस्तु उत्पन्न होती हैं और अतितीव्रगति से स्थूल हो जाती हैं एवं स्थूल होते होते क्षणभर में अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाती हैं। उसके बाद उसका क्षय प्रारम्भ होता है और सब प्रकार से महान् बनी हुई भी वस्तु हमारे देखते देखते नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार कालाधीन समस्त वस्तु निरन्तर परिणाम को प्राप्त होती रहती हैं ॥ ३ ॥

दृष्टो बालः कियदपि दिनं केलिलोलः स पश्चाद्
दर्पावेगभ्रमितधिषणः सैषणो यौवनस्थः ।
वृद्धश्चिन्ताशतपरवशो हीनशक्तिस्ततोऽसौ
सर्वोऽप्येव क्षणमिव पुरः स्वप्नवच्च प्रयातः ॥ ४ ॥

खेलमें तत्पर हुआ कुछ दिन बालक के रूपमें जो दिखायी दिया वही थोड़े दिन बाद दर्प से उन्मत्त, पुत्रादि - एषणाओं से युक्त, युवा के रूपमें दिखायी पडा। कुछ दिन बाद वही शक्तिहीन तथा नाना प्रकार की चिन्ताओं से व्याकुलित हुआ वृद्ध के रूपमें दिखायी दिया और उसके बाद वे सारे खेल स्वप्न के समान क्षणभर में सामने ही विलीन भी हो गये ॥ ४ ॥

इत्थं समस्तमपि वस्तु निरीक्ष्य चापि
त्वङ्गत्तरङ्गरयसंगतबुद्बुदाभम् ।
आपीय मोहमधु बोधनिबद्धवैरा
वैराग्यलेशमपि नैव समाश्रयन्ते ॥ ५ ॥

इस प्रकार समस्त वस्तुओं को उठती हुई तरंगों के ऊपर दिखायी देनेवाले बुद्बुदों के समान क्षणभंगुर देखते हुए भी मोहरूपी मदिरा पिये हुए मनुष्य अत एव बोध के बैरी (अक्कल के शत्रु) लेश मात्र भी वैराग्य को प्राप्त नहीं होते ॥ ५ ॥

अनिर्वचनीयताष्टकम् ।

पूर्वं पूर्वतरं च पूर्वतममित्येवंदिशा चिन्तयन्
कल्पादिं गणनाचणः समगमं पूर्वांश्च कल्पान् बहून् ।
यत्रैव व्यरमं निरैक्षिषि ततः क्षिप्यन् दृशं पूर्वतो
निर्विशेष्यमशेषमद्यदिवसात् सर्वं सपूर्वं दिनम् ॥ ६ ॥

पूर्व, उससे भी पूर्व, उससे भी पूर्व; इस रीति चिन्तन करता हुआ मैं कल्प के आदि तक पहुंचा, और उससे पूर्वकल्प, पूर्वतरकल्प, इस प्रकार हजारों, लाखों कल्पतक भी पहुंचा। किन्तु जहां जाकर रुकता हूं और वहां से पूर्व की ओर दृष्टिपात करता हूं तो प्रतीत होने लगता है कि, मैंने कुछ गिना ही नहीं, आज का ही वह दिन

है। आज से पूर्व जितना समय है उतना ही समय वहां से भी पूर्व है ॥ ६ ॥

इत्थं चोत्तरमुत्तरोत्तरमिति श्रित्वाऽपरां च प्रथां
कल्पान्तं गतवांस्ततः परतरान् कल्पाननल्पानपि ।
यत्रैवोपरतस्तमेव सपरं निर्वर्ण्य पारं क्वचा-
प्यप्राप्तुर्मनसा सहैव सहसा वाचो निवृत्ता मम ॥ ७ ॥

इसी प्रकार दूसरी ओर उत्तर, उसके भी उत्तर (बाद) इस रीति चिन्तन करता हुआ मैं कल्पान्त तक पहुंचा और उससे उत्तर कल्प, उत्तरतरकल्प इस प्रकार लाखों करोडों कल्प आगे तक भी पहुंचा। किन्तु जहां भी जाकर रुकता हूं उससे भी आगे कल्प पाये और उस काल का पार न पाकर मनके साथ मेरी वाणी सहसा निवृत्त हो गयी। इन दो श्लोकों से जगत की कालकृत अनिर्वचनीयता बतायी ॥ ७ ॥

समयः समवैक्षि योऽपि वा महतो मध्यमसावनेहसः ।
बहवः किमु मध्यबिन्दवः किमु वा विभ्रम एष धीजुषाम् ॥ ८ ॥

यद्यपि हमें प्रतीत होगा कि, आज से पूर्व की या उत्तर की ओर गिनने से जितने कल्प गिनती में आयेंगे उनसे कम ही एक करोड कल्प पूर्व के या बाद के समय से गिनने पर गिनती में आयेंगे। किन्तु विचारदृष्टि से देखेंगे तो एक करोड कल्प पूर्व या उत्तर से गिनने पर भी उतने ही कल्प गिनती में आयेंगे जितने कि आज से गिनने पर। कारण, काल निरवधि है। जितने ही गिनेंगे उतने ही आगे समय निकलते जायेंगे। अत एव जो भी समय हम देखेंगे वह उस महाकाल का मध्य ही पायेंगे। क्या एक दीर्घायमान काल में बहुत से मध्यबिन्दु हो सकते हैं? या जैसे एक लंबी लकीर में अनेक

मध्यबिन्दु की प्रतीति भ्रम मात्र है वैसे मध्य के रूपमें दिखायी देनेवाले ये सारे काल भ्रम मात्र तो नहीं हैं ? ॥ ८ ॥

विकासवादो विगतो हृदिस्थो विनिःसृतो ह्रासविलासवादः ।
अगम्यमाने खलु कालमाने क्व ह्रासवादः क्व विकासवादः ॥ ९ ॥

आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं के अनुसार मेरे हृदय में जो यह भावना बैठी थी कि विकासवाद ठीक है, इस काल की दीर्घता की ओर दृष्टिपात करने से वह नष्ट हो गयी और इसी कारण प्राचीन दार्शनिकों के सिद्धान्त के अनुसार कुछ दिन यह जो भावना बैठी थी कि उत्तरोत्तर ह्रास होता है, वह भी समाप्त हो गयी। जो काल मन-वाणी का अविषय है उसमें ऐसा निर्णय देना किसी के लिये भी शक्य नहीं है कि विकासवाद ही ठीक है या ह्रासवाद ही ठीक है, कारण जहां मन वाणी पहुंच सकते हैं वहीं पर मनुष्य निर्णय दे सकता है ॥ ९ ॥

[1]ऊर्ध्वं चोर्ध्वममुष्य चोर्ध्वमिति मे चेतोऽजिहीतोर्ध्वतः
क्रोशान् कोटिमितांस्तथाऽर्बुदमितान् शङ्खानसंख्यानपि ।
यत्रैवोपरतं तदन्तमखिलं शून्योपमं प्रत्यगाद्
यत्तस्योर्ध्वमलक्ष्यतान्तरहितं स्थानं निजागोचरम् ॥ १० ॥

---

१ आर्यसमाज के आद्यप्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ने जिज्ञासुओं के बुद्धि-वैशद्यार्थ अथवा स्वकल्पितपक्षरक्षार्थ अपुनरावृत्तिरूप मोक्ष पर इस प्रकार आक्षेप किया है कि– मुक्तजीवों का यदि पुनरागमन न होता हो तो आज तक संसार समाप्त हो गया होता। समुद्र के किनारे परार्ध से भी अत्यधिक संख्या में रेती पडी है। उनमें से यदि एक एक कण उठाकर फेंक दिया जाय तो वह कथमपि खतम नहीं हो सकती। परन्तु यह केवल एक स्थूल दृष्टिमात्र है। हम सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो यह निश्चित प्रतीत होगा कि एक साल दो साल में समाप्त न हो, किन्तु करोडों अरबों वर्षों में जाकर वह भी समाप्त-

ऊपर, उससे ऊपर, उससे भी ऊपर इस प्रकार चिन्तन करता हुआ मेरा मन करोड, अरब, शंख तथा असंख्य कोस ऊपर गया। परंतु जहां भी वह रुकता है और वहां से ऊपर को देखता है तो तबतक जितना ऊपर दूर गया वह शून्य समान दिखायी पडने लगा। कारण, वहां से भी उसी प्रकार अन्त रहित ऊर्ध्व दिशा, जो मन के लिये जानना अशक्य है, दिखायी दी ॥ १० ॥

इत्थं गच्छदधो मनः सुनिपुणं दूरात्सुदूरं गतं
नानादिक्षु च किन्तु वीक्ष्य सकलास्तावन्निरस्तावधीः ।
स्वस्याशेषमकल्पनास्पदपदं निश्चिन्वदल्पीयसः
साकं संन्यवृतत्स्मृतागमवचो वाचा पराभूतया ॥ ११ ॥

हो ही जायेगी। कारण एक एक रेत उठाकर फेंकने पर घटती ही तो है, बढती तो नहीं है। इसी प्रकार, माना कि जीवों की संख्या परार्ध से भी अत्यन्त अधिक है, फिर भी यदि एक एक करके मुक्त हो जाय तो भी, फिर न लौटें तो, दीर्घकाल में इनकी भी समाप्ति होना अनिवार्य है। कारण जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है जिससे उनकी संख्या बराबर होती रहे और एक एक करके घटता भी जा रहा है। पूर्वोक्त रीति से काल की दीर्घता की ओर हम दृष्टिपात करते हैं तो कितना काल आज तक बीत चुका यह मन और वाणी का अविषय हो जाता है अत एव आज तक सारे जीवात्मा समाप्त होने चाहिये थे। भले ही एक कल्प में एक ही मुक्त हो, तो भी कितने अनन्तानन्त कल्प बीत गये इसका कोई पता नहीं अत एव आज तक जीव का अस्तित्व रहना अशक्य है। इतना हो नहीं करोडों कल्प पूर्व भी जीवों का अस्तित्व दुर्घट है; कारण, तब तक भी कितने कल्प बीत गये इसकी कोई गिनती नहीं हो सकती है। अतः सिद्धान्त रूप से यही मानना चाहिये कि मुक्त पुरुष कुछ अरब बरस तक परम सुख का अनुभव कर फिर इस संसार में लौट आते हैं; इसी कारण यह संसार बना रहता है।

महर्षि दयानन्द के इस आक्षेप का ध्वनिमात्र से उत्तर देते हुए जगत की अनिर्वचनीयता को प्रकारान्तर से दो श्लोकों के द्वारा स्फुट करते हैं।

इसी प्रकार नीचे की ओर जाता हुआ मेरा मन बहुत दूर जा निकला तथा नाना दिशाओं की ओर भी। किन्तु सभी अवधि रहित ही सामने पाये। तब मेरा मन अपना तुच्छ स्वरूप एवं जगत् को अपनी कल्पना से अतीत निश्चित कर अन्यार्थक होने पर भी यहां पर घटमान "**यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**" इस श्रुतिवचन को स्मरण करता हुआ, पहले से ही हारी हुई वाणी के साथ, निवृत्त हो गया[1] ॥ ११ ॥

---

१ इन दो श्लोकों से महर्षि दयानन्द के आक्षेप का परिहार हो जाता है। समस्त जीवन ही नहीं अपि तु अनन्त काल पर्यन्त ऊपर, उसके ऊपर इस प्रकार ऊर्ध्व की ओर जाते रहेंगे तो भी पार नहीं पा सकेंगे। जहां भी रुकेंगे उसके भी ऊपर देश होगा ही। इस अवधिशून्य देश में लोकलोकान्तर और प्राणी भी अवश्यं भावी है। इस प्रकार इश्वर मुक्त होते जायेंगे, उतने के उतने ही आगे निकलते ही जायेंगे। जैसे काल की समाप्ति नहीं है वैसे देश की भी समाप्ति नहीं है। अत एव घटने पर भी जीव नहीं घटते। और न समाप्त ही होते। "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" इस श्रुति का यथाश्रुत अर्थ भी इसी बात को सिद्ध करता है। अर्थात् अनन्तरूपी पूर्ण से एक दो क्या, अनन्त ही ले लिया जाय तो भी पूर्ण अर्थात् अनन्त ही अवशिष्ट रहता है।

सामान्य दृष्टि से यहां पर यह शंका उपस्थित होगी कि, नये जीव नहीं आते और पुराने जीव मुक्त होते जा रहे हैं तो कभी न कभी समाप्ति होगी ही। परन्तु ऐसी शंका करनेवालों से यह पूछा जायेगा कि तुम प्राणियों को मुक्त करते हुए कल्पनारूप से ऊपर की या किसी भी दिशा की ओर जावो और कहां पहुंचने पर तुम्हें जीवों की समाप्ति मिलेगी यह बतावो। पर समाप्ति कहीं पर भी दीखनेवाली नहीं है। जहां समाप्ति की संभावना करोगे उससे भी आगे देश और प्राणी मिलते ही जायेंगे। इसमें कारण उसकी अनन्तता ही है।

इस अवस्था में यही प्रश्न उपस्थित होगा कि – तब फिर समाप्त होते हुए भी समाप्त नहीं होते यह क्या अद्भुत जादू है? जीव घटते जा रहे हैं फिर भी नहीं घटते यह क्या आश्चर्यकारी लीला है? इस प्रश्न का उत्तर भी वही है कि

अणीयांसं पांसुं प्रभवति विवेक्तुं न पुरुषो
न शक्तस्तच्छक्तिर्भवति कियतीत्याकलयितुम् ।
अनन्तब्रह्माण्डस्ववगतिकथा का पुनरथा-
प्यपूर्वं सार्वज्ञ्यं निजममितगर्वः प्रथयति ॥ १२ ॥

" अणवः सर्वशक्ताः स्युः " यह वाक्यपदीयवचन है। आधुनिक वैज्ञानिकों का भी कहना है कि एक अणुके अंदर इतनी शक्ति है कि हम उससे एक मिनट में सारी दुनिया को नष्ट कर सकते हैं। इस एक अणु को भी हम यथावत् पहचान नहीं सकते तब अनन्त ब्रह्माण्डों को भली भांति जानने की कथा तो दूर है। फिर भी महा गर्वी मनुष्य अपनी विलक्षण सर्वज्ञता बतलाता हुआ लज्जित नहीं होता। (प्रमेयत्वादिरूप से ज्ञान हो सकता है अतः सु-अवगति की दुर्लभता कही गयी) ॥ १२ ॥

तस्मादस्माकमेषा मतिरखिलमिदं बाललीलाविलासं
दृष्ट्वा वादं विवादं विविधमपि तथा शास्त्रसिद्धान्तजातम् ।
सर्वानिर्वाच्यतायां व्यवसितिमियती हेयमालोक्य सर्वं
निर्धूताखर्वगर्वा श्रयति सकलतो हन्त वैराग्यमेकम् ॥ १३ ॥

ह्रासवाद, विकासवाद आदि सभी वाद, विवाद वा शास्त्रसिद्धान्त केवल एक बाललीलामात्र है; वास्तव में सारा ही जगत् अनिर्वचनीय है; इस प्रकार निश्चय को प्राप्त हुई मेरी मति गर्वशून्य होकर सारे

यह अघटितघटनापटीयसी माया महाद्भुत है, अनिर्वचनीय है, उसका कार्य भी महाद्भुत एवं अनिर्वचनीय है।

ग्रन्थकार का यहां पर यद्यपि किसीके मतनिरास में तात्पर्य नहीं है। किन्तु जगत् की अनिर्वचनीयता दिखाने में ही है अत एव उससे वैराग्य प्राप्त करने में ही तात्पर्य है; किन्तु उपर्युक्त रीति से आक्षेप समाधान भी हो जाता है इस दृष्टि से आक्षेप और समाधान दिखाये गये।

जगत को हेय समझती हुई एक वैराग्य का ही आश्रयण कर रही है ॥ १३ ॥

असाराष्टकम् ।

नैकं जन्माभवन्मे न च दश न शतं नो सहस्रं न कोटिः
कोटीनां नापि कोटिर्गणनविषयता यस्य दूरादपेता ।
जायाः कत्येव रायः कति कति पितरः कत्यपत्यान्यभूवन्
किं तैर्हन्त प्रयातैः किमु समुपगतैः किं च संगच्छमानैः ॥ १४ ॥

जगत् असार होने के कारण हेय है इस अर्थ को आठ श्लोकों में बतला रहे हैं ।

मेरा एक जन्म नहीं, दस नहीं, सौ नहीं, हजार नहीं, करोड नहीं, और करोडों के करोड भी नहीं; कारण, उसकी गणना ही नहीं हो सकती है। इसके बीच में कितनी पत्नियां हुई, कितने धन हुए, कितने पिता हुए और कितने पुत्र हुए यह नहीं बतलाया जा सकता। पर उन गये हुओं से और प्राप्त हुओं से आज तक क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ यह बतलाना कठिन है। वास्तव में उनका आना जाना मिलना सभी निष्फल ही हुआ। कोई प्रयोजन आज नहीं दीख रहा है। उन बीते पति, पत्नी, धन दौलत से आज कोई प्रयोजन नहीं प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार जो आज प्राप्त हो रहे हैं ये भी निष्प्रयोजन ही चले जायेंगे। भले ही आज उनकी निष्प्रयोजनता प्रतीत न हो किन्तु कुछ दिनों के बाद इन प्राप्त होनेवालों की भी निष्प्रयोजनता स्पष्ट प्रतीत हो जायेगी ॥ १४ ॥

भीतिर्बाल्ये गुरुभ्यो मदनशरहतिः शैशवान्ते दुरन्ता
नारीणां संतताराधनजनितमनःक्लेशसंदर्भगर्भा ।

अन्ते कौटुम्बचिन्ताद्विगुणितविपुलाभीलजम्बालपातो
यातं सर्वायुरेवंविधमथ च कुतोऽप्येव सौख्यं न दृष्टम् ॥ १५ ॥

बाल्य में अपने बडों से भय, यौवन में कामदेव का उग्र आघात और साथ में नारियों की आराधना से उत्पन्न हुए असह्य क्लेशों का संमिलन, अन्त में कुटुम्ब चिन्तन से दुगुनी हुई बेचैनी के कीचड में पतन, इस प्रकार सारी आयु बीत गयी; और कहीं से भी सुख प्राप्ति दिखाई नहीं दी ॥ १५ ॥

दारान् काप्युग्रभारान् क्वचन च तनयानामयाक्रान्तकायान्
क्लेशान् काये स्वकीये क्वचिदपि पिशुनातङ्कपङ्काभिषङ्गान् ।
चिन्तासन्तानदीर्घा दुरपनयतमीः क्वापि निर्यापिताश्च
ध्यायन्ती वस्तुनीह क्वचन च न च मे शेमुषी निर्वृणोति ॥ १६ ॥

गृहस्थ जीवन की ओर एक बार दृष्टिपात करते हैं तो कहीं पत्नियों के संभाल की कठिनता, कहीं लडके बीमार, कभी अपने ही शरीर में क्लेश, कभी धूर्तों के चंगुल में फंस जाने से आपत्तियां, कभी चिन्ता के कारण लम्बी रात्रियों का मुश्किल से काटना; इन सबको सोचते हुए मेरा मन किसी भी वस्तु में निर्वृति को प्राप्त नहीं हो रहा है, अर्थात् सुख की आशा किसी भी वस्तु में दीख नहीं पड रही है; अत एव किसी भी वस्तु से मुझे शान्ति प्राप्त नहीं हो रही है ॥ १६ ॥

निद्राभङ्गेन जातामुषसि विकलतामौदरातङ्कहेतो-
रुद्भूतं दौर्मनस्यं तदनु जनधनाहारसंभारचिन्ताम् ।
श्रान्तिं सायं नितान्तं प्रतिदिनमनुभूयैव निर्याप्यमाणे
जन्मन्याशाविवर्जे वदत सुखकणो वापि संभाव्यते चेत् ॥ १७ ॥

प्रतिदिन की चर्या देखने से भी जीवन अत्यन्त असार प्रतीत होता है। प्रातःकाल निद्रा भंग होने से कष्ट, उदर बराबर न होने से मन में मलिनता, उसके बाद जन-धन-भोजनसामग्री की चिन्ता, सायंकाल थकावट; इसी प्रकार प्रत्येक दिन और वैसे ही सारा जीवन बीत जाता है। मनुष्य सोचता है कि आज नहीं तो कल अवश्य ही सुख मिलेगा, पर उसकी यह आशामात्र ही रह जाती है ॥ १७ ॥

विद्यालाभाय पूर्वं तदनु वसतये जीविकायै स्वकाना-
मुद्वाहायात्मजायास्तनयभरणतश्चेति संजायमानैः ।
नित्यं चिन्तावितानैर्नवनवविपदैः सर्वमायुर्नयन्तः
सर्वेऽप्यागामिशान्तेर्दधति तु जगति प्राणमाशावलम्बाः ॥ १८ ॥

प्रथम पढने और विद्या प्राप्त करने की चिन्ता, उसके बाद अपने तथा संबन्धियों के रहने के स्थान आदि की चिन्ता, नौकरी आदि प्राप्त करने की चिन्ता, युवती पुत्री के विवाह की चिन्ता पुत्र को लायक बनाने की चिन्ता, इस प्रकार की चिन्ताओं में ही सारी आयु बीत जाती है। फिर भी मनुष्य इस आशा में ही रहता है कि आगे शान्ति मिलेगी और इसी आशा में अपने प्राणों को भी धारण करता[1] है ॥ १८ ॥

---

१ तात्पर्य यह है कि पढते समय मनुष्य सोचता है कि पढाई समाप्त होने पर हम सुखी हो जायेंगे धन कमाते रहेंगे। परन्तु पढने के बाद फिर जीविका चलाने की चिन्ता होती है तब सोचता है कि कुछ नौकरी आदि मिल जायेगी तो सुखी हो जायेंगे। नौकरी मिलने पर अलग रहने तथा स्वजनों के निवास-स्थान की चिन्ता लग जाती है और सोचता है कि रहने का ठिकाना हो जायेगा तो शान्ति मिल जायगी। फिर विवाह की चिन्ता उसके बाद लडके लडकी हो जाते हैं तो उनको सब रास्ते पर लगाने का फिकर होता है और उसके बाद निवृत्ति सुख अनुभव करने की आशा रखता है। परन्तु उत्तरोत्तर झंझटें बढती ही जाती है और केवल आशा में ही सारी आयु चली जाती है।

मन्वानः सविधं जलं मृगशिशुर्धावन् सृतौ धन्वनो
दूरं याति विलोक्य वारि पुरतस्तत्रापि चाशायुतः ।
धावं धावमुदग्रभास्करकरैः संधर्षितस्तर्षतः
प्राणान् स्वान् पतितः क्षितौ बहिरियज्जिह्वोऽन्तयत्यन्ततः ॥ १९ ॥

पास ही जल है ऐसा समझकर मृगबालक मरुमार्ग में दौडता हुआ दूर जा निकलता है और वहां भी सामने पानी देख कर आशा से फिर दौडता है । इस प्रकार दौड दौड कर प्रखर सूर्य किरणों से व्याकुलित हुआ वह प्यास के मारे भूमि में पड जाता है, जिह्वा बाहर निकालता है और अन्त में अपने प्राणों का भी अन्त कर देता है ॥१९॥

एतां संतीर्य कष्टां स्थितिमथ सुखितः स्यामिति प्रश्रिताशो
यावत्तां निस्तृणोति प्रतिभयमपरं कष्टमापद्यतेऽसौ ।
नित्यं नेदिष्ठमेवं सुखमुपकलयन् सर्वमायुर्विमूढो
नीत्वा कृच्छ्रातिकृच्छ्रे तमसि विनिपतन्नन्तकातिथ्यमेति ॥ २० ॥

थोडे दिन के लिये कठिन परिस्थिति है, इसके बाद मैं सुखी हो जाऊंगा, इस प्रकार आशा बांध कर जब तक उस परिस्थिति को झेल लेता है तब तक दूसरी कठिनाई आ खडी हो जाती है और तब भी मनुष्य सोचता है कि इसे पार कर मैं सुखी हो जाऊंगा । इस प्रकार हमेशा मृगतृष्णा के समान समीप में सुख देखता हुआ अपनी सारी आयु बिताता है और अन्त में अत्यन्त घोर दुःख के अंधेरे में पड कर यमराज का अतिथि बन जाता है ॥ २० ॥

क्वचित्सुखं क्षणमथ दुःखसंगमः
क्वचित्पुनर्हसनमथातिरोदनम् ।
क्वचिद्धनागमनमथो दरिद्रता
क्व विश्वसिम्यनियतभाववस्तुनि ॥ २१ ॥

कहीं एक क्षण के लिये सुख हो रहा है तो दूसरे ही क्षण में दुःख आ घेरता है। कहीं पर क्षण भर के लिये हँसी और बाद में रोदन हो रहा है। कहीं धन आता हुआ नजर आता है। किन्तु क्षण में ही दरिद्रता आक्रमण कर लेती है। अनियतरूप से दिखाई देनेवाली इन वस्तुओं में कहां विश्वास किया जाय ॥ २१ ॥

जन्मफलदशकम्।

आतुरोऽहमधिगर्भमागुरं कर्तुमीशभजनं जनेः परम् ।
जन्मनश्च परतोऽभज सुखं संसृतेः क्षणिकमेव केवलम् ॥ २२ ॥

यहां से दस श्लोकों में गर्भोपनिषद के आधार पर कर्त्तव्यनिदर्शन कराते हुए रागहेतुक कर्तव्यच्युति को दरशाते हैं और रागको हेय बतलाते हैं।

मैं ने गर्भावस्था में दुःखी होकर यह प्रतिज्ञा की थी कि जन्म के बाद मैं भगवान् का ही भजन करूंगा। किन्तु जन्म लेने के बाद मैं ने संसार के क्षणिक सुखों का ही सेवन किया। "**यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये महेश्वरम् । अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्** (गर्भो. ४) यह गर्भोपनिषद का मन्त्र है। मैं यदि इस योनि से मुक्त हो जाऊंगा तो उस भगवान् महेश्वर शंकर की शरण में रहूंगा जो अशुभ का क्षय करनेवाला है और फल – परमपुरुषार्थ मुक्ति को देनेवाला है यह मन्त्रार्थ है।

दूसरा अर्थः– मैं ने जन्म के बाद कई बार ऐसी प्रतिज्ञायें कीं कि मैं गर्भ में अत्यन्त आतुर रहा हूं अब इस कुम्भी नरक से बचने के लिये ईश्वर का भजन करूंगा। किन्तु प्रतिज्ञा के बाद भी "**बलादिव नियोजितः**" इस न्याय के अनुसार संसारसुख में ही फंसा रहा ॥ २२ ॥

गर्भदुःखदलितोऽभ्युपागमं सांख्ययोगमधिगन्तुमुत्तमम् ।
अध्यगीषि पुनरौज्ज्वलान्युप - न्यासनाटकमुखान्यपाश्रवः ॥२३॥

गर्भदुःख से दलित होकर मैं ने यह प्रतिज्ञा की थी कि इस दुःख से छुडानेवाले उत्तम सांख्यशास्त्र का मैं श्रवणमननादि करूंगा। किन्तु इसके बाद मैं ने शृंगारिक नाटक उपन्न्यास आदि को ही पढता हुआ अपनी प्रतिज्ञा से दूर रहा। "यदि योन्यां प्रमुञ्चामि सांख्यं योगं वा समाश्रये। अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्" यह गर्भोपनिषद का मन्त्र है॥ २३ ॥

आगतो मनुजजन्मना सना—दात्मतत्त्वममलं परीक्षितुम् ।
आगतश्च निपुणं समावहं रत्नकाञ्चनधरापरीक्षणम् ॥ २४ ॥

मैं मनुष्य जन्म के द्वारा नित्यशुद्ध आत्मतत्त्व की परीक्षा करने आया था। अर्थात् नित्यानित्यवस्तुविवेक के द्वारा आत्मतत्त्व की उपादेयता निश्चित करने आया था। और आनेके बाद बडी कुशलता के साथ रत्न, सोना और जमीन आदि का परीक्षण किया - कौन चीज अच्छी है, कौन रत्न उत्तम है यही सब निश्चित किया ॥ २४ ॥

आगतो भुवनयोनिमीश्वरं द्रष्टुमेव मनुजन्मजन्मना ।
आगतश्च नटनाट्यचित्रकं दृष्टवान् पटु नटीकटाक्षितम् ॥ २५ ॥

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति...तद्विजिज्ञासस्व" "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि श्रुति के अनुसार समस्त भुवन के कारण परमेश्वर को देखने ही के लिये मनुष्य जन्म लेकर आया। और आकर नटों का कुत्सित नाट्यचित्र तथा नटियों का चतुर कटाक्षों को ही देखा ॥ १५ ॥

आगतोऽगणितजन्मसंचितान् धावितुं कलुषसंचयानिह ।
आगतश्च समपादयं मनः कोटिवासनमपारकल्मषम् ॥ २६ ॥

"नानायोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया......यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम् । एकाकी तेन दह्यामि...... यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये नारायणं देवम् अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्" इत्यादि गर्भोपनिषत् प्रभृति के मन्त्रों के अनुसार अगणित - अनन्त जन्म संचित पापसमूह को धोने के लिये ही इस मर्त्य लोक में मैं आया था और आकर अपने मन को करोडों वासनाओं और अपार कल्मष - पापों से भर दिया ॥ २६ ॥

आगतः सकललोकनायकं सेवितुं कलितपुण्यशेमुषिः ।
आगतश्च सततैकचिन्तया पञ्चबाणविशिखानसेविषि ॥ २७ ॥

सत् - असत् विवेक करने योग्य उत्तम बुद्धि लेकर परमेश्वर की सेवा करने आया था । "यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये भगवन्तं नारायणं देवम्" यही मेरी प्रतिज्ञा थी । और आकर निरन्तर एक ध्यान से कामदेव के शरों का ही सेवन किया अर्थात् कामदेव के बाणों से आहत होकर उस कामदेव का ही निरन्तर चिन्तन करता रहा ॥ २७ ॥

आगतो भुवि समाहितं मनः संविधातुमखिलान्तरात्मनि ।
आगतश्च समदः समादधां पुत्रदारविभवाद्यनात्मनि ॥ २८ ॥

अन्तरात्मा में मन को समाहित करने के लिये इस मर्त्य लोक में आया । "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति" "यदि योन्यां प्रमुञ्चामि ध्याये ब्रह्म सनातनम्" इत्यादि श्रुति भी इस अर्थ को बता रही है । और आकर मदोन्मत्त होकर पुत्र, दार और धन इत्यादि अनात्मवस्तुओं में ही मन को समाहित किया (लगाया) ॥ २८ ॥

आगतोऽखिलजनेषु निर्मलं शर्मदं च समभावमीक्षितुम् ।
आगतश्च कृतवान् निजः परः क्षुल्लको लघुरितीदृशीं दृशम् ॥ २९ ॥

" समं पश्यन् हि सर्वत्र " " योगस्थः कुरु कर्माणि " " समत्वं योग उच्यते " इत्यादि वचनानुसार समस्त प्राणियों में समदृष्टि रखने के लिये आया । और आकर यह मेरा यह पराया यह तुच्छ यह हल्का ऐसी विषम दृष्टि ही रखी ॥ २९ ॥

आगतो भुवि परोपकारमा – धातुमेव कलयन् कलेवरम् ।
आगतश्च धनसंचयाशया हन्त हन्त परवञ्चनं व्यधाम् ॥ ३० ॥

मानव शरीर लेकर इस धरातल में परोपकार करने आया । " परोपकाराय सतां विभूतयः " इत्यादि नीतिवचन यही अर्थ बतला रहा है । और आकर धनसंचय करने की इच्छा से हाय ! हाय ! मैंने परवञ्चन ही किया ॥ ३० ॥

आगतः सुकृतमञ्चितुं पर– ब्रह्मभावगमनादिकारणम् ।
आगतश्च शतकोटिजन्मनां बीजमेव वृजिनं समार्जयम् ॥ ३१ ॥

" तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा " " ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति " इत्यादि श्रुतियों के अनुसार ब्रह्मभाव प्राप्ति हेतु ब्रह्मज्ञान का आदिकारण यज्ञदानादि सुकृत कर्म जनित पुण्य को प्राप्त करने के लिये आया और आकर करोडों जन्मों का कारण पाप का ही अर्जन (सम्पादन) किया ॥ ३१ ॥

भोगदुःखताष्टकम् ।

भोगेष्वलब्धेषु तृषाऽतिदुःखमल्पेषु लब्धेष्वनलंत्वबुद्धेः ।
प्रकामभुक्तेषु च रोगदुःखं तदुच्यतां चेत्सुखमेषु किंचित् ॥ ३२ ॥

यहां से आठ श्लोकों में भोगों की दुःखरूपता एवं हेयता दिखलाते हैं ।

भोग प्राप्त न होनेसे तृष्णा के कारण दुःख, थोडा प्राप्त होने पर तृप्ति न होनेके कारण दुःख और यथेष्ट भोगों को भोगने से रोग के कारण दुःख, इस प्रकार सब तरह से दुःख ही दुःख दीख रहा है तो बतावो कि इन भोगों में कुछ सुख भी संभव है ? ॥ ३२ ॥

संभुज्यमानेषु विनाशहेतोर्भयोद्भवं द्वेषसमुद्भवं च ।
तदीयसंस्कारवशाद् विवृद्ध– रागोद्भवं लोभसमुद्भवं च ॥ ३३ ॥

संभाव्यमानप्रतिबन्धकेषु विद्वेषमात्सर्यभयादिहेतोः ।
उपेष्यमाणेष्वपि तेषु चेति दुःखं हि सर्वत्र विलोकयामः ॥ ३४ ॥

इतना ही नहीं, जब भोगों को भोगते हैं तब भी उन भोगों के विनाशक के प्रति भय या द्वेष के कारण दुःख होता है एवं उन भोगों के संस्कार के कारण उत्तरोत्तर बढते हुए राग वा लोभ से भी दुःख होता है ॥ ३३ ॥

और आगे प्राप्त होने योग्य भोगों में, संभाव्यमान प्रतिबन्धकों के साथ विद्वेष, मात्सर्य अथवा उनसे भय के कारण दुःख होता है । इस प्रकार हम सभी जगह दुःख ही दुःख देख रहे हैं । भगवान् पतञ्जलि ऋषि योगसूत्र में भी कहते हैं– **परिणामतापसंस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः** ॥ ३४ ॥

पल्यङ्कसौधचपलाव्यजनादि तुल्य-
मिभ्यस्य हालिककुटीरजरत्कटानाम् ।
संसेव्यमानमधिकाय न तत् सुखाय
कष्टाय किन्तु परतस्तदलभ्यमानम् ॥ ३५ ॥

महल, पलंग और बिजली का पंखा इत्यादि वस्तु धनियों के लिये उतना ही सुखप्रद है जितना कि हल चलानेवालों के लिये

छोटी झोंपडी और फटी चटाई आदि सुखप्रद है। ये महल आदि प्राप्त होनेसे अधिक सुख होता हो ऐसी बात नहीं है। हां इतनी बात अवश्य है कि एक बार प्राप्त करके उसका उपभोग करने के बाद, फिर समय पर नहीं मिलता है तो महान क्लेश का कारण होता है॥ ३५॥

अत्येष्यति ध्रुवमपारसुखक्षणोऽयं
दुःखक्षणश्च समुपेष्यति नो विवादः।
दुःखे महत्युपनते किमयं सहायो
मोदक्षणो ननु भविष्यति कस्यचिद्वा॥ ३६॥

यह निश्चित है कि यह अपार सुख की घडी बीत जायेगी और दुःख की घडी भी अवश्य आयेगी इस में कोई विवाद नहीं हो सकता। किन्तु प्रश्न यह है कि महान दुःख जब उपस्थित होता है तब यह आनन्द की घडी, जो बीत गयी है, सहायक बनेगी ?। तात्पर्य यह है कि जब दुःख आता है तब जितना भी भोगा गया सुख है, वह सब व्यर्थ पड जाता है। उस सुख का होना न होना बराबर हो जाता है। दुःखी पुरुष को पूर्वानुभूतसुख निरर्थक सा लग जाता है॥ ३६॥

चिरं भुक्त्वा भोगान् युवतिवसुयोगान् किमधुना
गलद्बाष्पाऽऽसारो भवसि रुजयाऽऽरोदनपरः।
इति श्रुत्वाऽऽचष्टाऽविदितपरकष्टाऽकरुण मां
गतं भोगाभासं ज्ञपयसि वृथा संव्यथयितुम्॥ ३७॥

पूर्वश्लोक में यह बताया गया कि दुःख की घडी आने पर पूर्वभुक्त समस्त भोग निरर्थक सा हो जाता है। इतना ही नहीं, वह विपरीत दुःख का भी कारण होता है इस बात को यहां पर बतलाते हैं।

आनन्द से सारी जिंदगी बिता कर अन्त में रोगी बने एक आदमी के प्रति एक विवेकी प्रश्न करता है– हे मित्र! तुमने बहुत कालतक कामिनीकाञ्चनयुक्त अनेक भोगोंको भोगा अब तुम्हें थोडा सा रोग हुआ तो उसके लिये आंसू बहाते हुए क्यों रोते हो?। यह सुन कर वह कहता है– अरे पराये दुःख को न जाननेवाले निर्दयी! तुम व्यर्थ में बीते हुए सुखाभास की याद दिला कर इस अन्तिम अवस्था में मुझे क्यों व्यथित कर रहे हो।

तात्पर्य यह है कि भोगों को भोगते हुए लोग अपने को महा भाग्यशाली समझते हैं। परन्तु वे महान् भूलमें हैं। दुःख आने पर इन्हीं भोगों का स्मरण करते करते हाय हाय करते हुए उन्हें अधिक दुःखी होना पडेगा॥ ३७॥

नष्टं सुखादि हृदि दुःखकरं चिराय
स्वप्नायितं भवति कालगते तदेव।
इत्थं कुतः स्फुटतरं परिलक्ष्यमाणं
न स्वप्नतुल्यमधुनैव निभालयध्वे॥ ३८॥

जो पति पुत्र सुख इत्यादि नष्ट होते हैं वे बहुत दिन तक हृदय में दुःख पहुँचाते हैं और वे ही बहुत समय बीतने पर स्वप्न समान हो जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट ही देखते हैं तो वर्त्तमानकाल में ही उन पति पुत्र सुखादि को स्वप्न तुल्य क्यों नहीं देख लेते॥ ३८॥

आयुः समर्प्य सकलं शतकोटियत्नैः
संपादितं वसुचयं महतीं च कीर्त्तिम्।
हर्म्याणि मञ्जुमधुराणि सुहृत्तमांश्च
कालो वियोजयति पश्य बलात् क्षणेन॥ ३९॥

संपूर्ण जीवन को ही लगा कर करोडों यत्नों के द्वारा संपादन

किया गया धन, कीर्ति, मनोहर महल और मित्र वर्ग आदि सबको वह काल एक क्षण में वियुक्त कर देता है। मरने के बाद कोई भी वस्तु अपनी नहीं रहती ॥ ३९ ॥

धनदशकम् ।

विनिर्याते यस्मिन् भवति परिपन्थी जनयिता
तथाऽमित्रो मित्रं भवति निजजायाऽपरिचिता ।
उपेते सस्वत्वा पितृमुखपदैः सार्थकगिरो
यतस्तस्मात् प्राहुः स्वमपि धनमेवार्थमपि च ॥ ४० ॥

यहां से दस श्लोकों में धन से तृष्णा को हटाने योग्य बतलाते हैं।

धन चला जाता है तो पिता शत्रु हो जाता है, मित्र वैरी बन जाता है और अपनी पत्नी अपरिचित हो जाती है। और धन के आने पर स्वत्व अर्थात् अपनापन रखते हुए पिता आदि पिता आदि शब्दों के द्वारा सार्थक शब्दवाले होते हैं इसलिये धन को ही 'स्वं' और 'अर्थ' कहा गया।

यहां पर यह बतला रहे हैं कि धन का नाम 'अर्थ' क्यों पडा। इसलिये कि धन के न रहने पर पिता, मित्र, पत्नी आदि शब्दों का कोई अर्थ नहीं रहता है वास्तव में उनको शत्रु, वैरी, अपरिचित इत्यादि कहना चाहिये। और धन के आने पर पिता पिता बन जाता है; मित्र मित्र रहता है; पत्नी पत्नी होती है। इसलिये शब्दों का यथार्थ अर्थ तो धन ही है इसलिये धनको ही 'अर्थ' कहा। इसी प्रकार धन का नाम 'स्व' भी है। 'स्व' का अर्थ है अपना। धन है तो सब अपने हैं और नहीं तो कोई अपना नहीं है। इसलिये 'अपना' तो धन को ही कहना उचित है ॥ ४० ॥

पतिः पत्नीं हन्यात् पतिमपि च पत्नी हतमतिः
पिता पुत्रं पुत्रः पितरमपि चापत्रपतया।
निषिद्धं संदध्युः श्रुतिशतविरुद्धं च मनुजाः
यदर्थं तं ह्यर्थं भुवि विदुरनर्थं मुनिवराः ॥ ४१ ॥

जिसके लिये पति पत्नी को भी कदाचित् मार डालता है, बुद्धि मारी जाने से कभी पत्नी पति की भी हत्या कर डालती है; पिता पुत्र को और पुत्र पिता को भी निर्लज्जता से मार देते हैं; निषिद्ध एवं श्रुतिविरुद्ध कार्यों को भी मनुष्य कर डालते हैं उस अर्थ को मुनिजन तो अनर्थ ही समझते हैं ॥ ४१ ॥

गुरोराज्ञां दध्मः शिरसि वसुनोऽन्यत्र विषये
पिता नः संसेव्यो ध्रुवमसति चार्थव्ययभये।
अनन्यं सौहार्दं सुहृदि स धनार्थी मम न चेद्
गुरुत्वाद्यं यस्माद् विभवविषयेऽलीकमखिलम् ॥ ४२ ॥

गुरुजी की आज्ञा शिरोधार्य है यदि धन को छोड कर अन्य किसी विषय की हो; पिताजी तो निश्चित ही हमारे सेवनीय है यदि अर्थव्यय का भय न हो; मित्र में मेरी अनन्य अटूट मैत्री है यदि वह धन न चाहता हो। क्यों कि धन की बात आ जाती है तो गुरुत्व, पितृत्व, मित्रता ये सब मिथ्या हो जाते हैं- असत् हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

ईषन्न्यूनमिति ह्यवागमि यदा स्वल्पं ममासीद् धनं
यत्नेनोपचितं च हर्म्यविरहान्न्यूनं प्रतीतं पुनः।
हर्म्यादौ वितते च यानविरहादन्यान्यशून्यत्वतो
मायाजालमिदं धनं हि हनुमल्लाङ्गूलचैलायितम् ॥ ४३ ॥

जब मेरे पास थोडा धन था तब मैं समझता था कि थोडे से धन की न्यूनता है; उसकी पूर्त्ति हो जाने पर मैं संतुष्ट हो जाऊंगा। उसकी पूर्ति के लिये यत्न किया गया। कुछ धन एकत्रित हुआ भी। किन्तु अच्छे महल मकान न होनेसे अब भी धन की न्यूनता प्रतीत हुई। प्रयत्न से महल आदि भी बन गये और संभावना थी कि अब धन की न्यूनता न रहेगी, पर देखते हैं अब यान (मोटर आदि) नहीं हैं और अन्यान्य वस्तु भी नहीं है, धनकी बहुत न्यूनता है। आश्चर्य है कि धन जितना प्राप्त हो उतनी ही अधिक न्यूनता दीख पडती है। यह तो मायाजाल है, हनुमान् की पूंछ लपेटने के वस्त्र हैं। (लंका में हनुमानजी की पूँछ जलाने के लिये सारी लंका के कपडे लपेटे गये, लेकिन पूँछ एक हाथ खाली ही रह गयी। ऐसी किंवदन्ती है ॥ ४३ ॥

यत्संचये यत्परिरक्षणे च नाशे व्यये यस्य च दुःखमेव।
विदन्निदं वेद न दुःखहेतुं कोऽप्येव कुप्यं किमतोऽत्र चित्रम् ॥४४॥

जिसके संचय करने में, रक्षा करने में, नाश में और व्यय में दुःख ही होता है; और इस बात को सब जानते भी हैं; फिर भी कोई भी उसे दुःख का हेतु नहीं समझता। इससे बढ कर क्या आश्चर्य है। अर्थात् दुःख हेतु देखते हुए भी दुःख हेतु नहीं जानते यह तो महान् व्याघात है; फिर भी वैसा होता है ॥ ४४ ॥

उत्तुङ्गीकुरुते शिरो,ऽरुणयते नेत्रे मदाद्, दुःखिनां
वृत्तान्ते बधिरीकरोति नितरां श्रोत्रे, त्वचं प्लोषति।
हुंकारच्छलतः परस्तुतिविधौ दुर्गन्धमुद्गारय-
त्यद्धास्मै वसुनेऽखिलेन्द्रियरुजे बद्धो मयैषोऽञ्जलिः ॥ ४५ ॥

सिर ऊंचा कराता है, मद के कारण नेत्रों को लाल बनाता है, दुःखियों के वृत्तान्त में श्रोत्र को बहरे बना देता है, त्वचा को जलाता है, दूसरों की स्तुति सुनते समय सहन न होने से हुंकार कराते हुए मानो नाक से दुर्गन्धि निकालता है; स्पष्ट रूप से इस प्रकार समस्त इन्द्रियों को व्याकुल करनेवाले इस धन के लिये मैं यह अंजलि बांधता हूं—नमस्कार करता हूं ॥ ४५ ॥

स्वाम्यं भवेद् यदि हि वः प्रचिते हिरण्ये
जन्मान्तरेऽधिकुरुथैव कथं न तस्मिन् ।
न स्वं परस्य भवितुं प्रभवेत् कदापि
तत् स्वापतेयमिति हि प्रथितं जगत्याम् ॥ ४६ ॥

अगर तुम अपने धन के मालिक हो तो जन्मान्तर में उस धन पर तुम्हारा अधिकार क्यों नहीं रहता है। अपना धन कभी दूसरे का नहीं हो सकता। इसीलिये धन का 'स्वापतेय' यह नाम प्रसिद्ध है। 'स्वपतौ साधु-स्वापतेयम्' अर्थात् अपने मालिक के पास ही उचित रीति से वह रहता है, ऐसी उसकी व्युपत्ति है ॥ ४६ ॥

यः संयोज्य वियोजयत्यपि लिपीकारानिवेशित्वतः
स्वीयाच्च्यावयते पदाद् वसुचयं यश्चात्मसात्कुर्वतः ।
अन्यस्मिन्निह वा समुन्नमयति न्याय्यस्थिताञ्जन्मनि
तस्यैवाखिलमीशितुर्वसु सखे तस्मिन् मुधा मा गृधः ॥ ४७ ॥

जो (परमेश्वर) मनुष्य को मुनीम के समान धन संभालने में लगा देता है, और निकाल भी देता है, (मरने का अर्थ है कि तुम्हें मुनीमी से निकाल दिया और दूसरे मुनीम को रखा) चोर मुनीम के समान धन अपनानेवालों को-खानेवालों को जो (परमेश्वर) पदच्युत कर देता है— दूसरे या इसी जन्म में गरीब बना देता है

और न्याय से काम करने वालों की पदोन्नति कर देता है–दूसरे या इसी जन्म में अधिक धनी बना देता है, उसी परमेश्वर का यह सारा धन है। वे ही लक्ष्मीपति हैं। तुम वृथा उस धन में तृष्णा मत करो॥ ४७॥

तृष्णां करोति न स यत्सविधे हि तत् स्यात्
तद्धीनमेव किल तत्र दरिद्रमाहुः।
इत्थं धनेप्सव इमे सकला दरिद्रा
धन्यः स एव न हि तृष्यति यो न किंचित्॥ ४८॥

मनुष्य उस वस्तु में तृष्णा नहीं कर सकता जो उस के पास है। न्याय भी बतलाता है– " **सिद्धे नेच्छा** " अर्थात् प्राप्त वस्तु में इच्छा नहीं होती। जो वस्तु जिस के पास नहीं है वह मनुष्य उस वस्तु का दरिद्र माना जाता है। जैसे-धन न हो तो धन का दरिद्र, पुत्र न हो तो पुत्र का दरिद्र। इस से यह सिद्ध होता है कि ये जितने भी धन चाहने वाले हैं, चाहे वे सेठ हों, चाहे राजा; दरिद्र ही हैं। कारण, उपर्युक्त न्याय से धन की अप्राप्ति में ही धनेच्छा हो सकती है और धनहीन ही तो दरिद्र है। धन्य=धनवाला तो वही है जो किसी वस्तु की तृष्णा नहीं करता॥ ४८॥

---

१ यहां पर यह अभिप्राय है कि पूर्वश्लोक की युक्ति से धन किसीका नहीं है। सभी मुनीम के समान है। अब धनवाले का अर्थ यही करना होगा कि जिसकी धनमें तृष्णा न हो। तब तो वितृष्ण (तृष्णारहित) ही धनिक है और सभी गरीब ही हो सकते हैं। दूसरी बात यह है कि, ज्ञान और वैराग्य से परमेश्वरभाव को प्राप्त हुए पुरुष का स्वतः ही धन अधीन हो जाता है। " **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति** " इस वचन के अनुसार ब्रह्मस्वरूप होने पर स्वयं ही मायारूपी लक्ष्मी का अधिष्ठाता वह हो जाता है।

(मुक्त पुरुष ईश्वरस्वरूप होता है इसके बारे में सिद्धान्तलेशसंग्रहादि में विस्तृत वर्णन है। दार्शनिक विचार वहीं से अवगन्तव्य है।)

संपाद्य भूरिविभवं वणिजस्तु वस्तु-
सत्यानृतेन भवनं निजमाव्रजन्ति ।
दारात्मजादिभिरमी व्यवहृत्य तद्वत्
संचित्य कर्म परियन्ति भवान्तराणि ॥ ४९ ॥

परदेश में जा कर व्यापारी वर्ग व्यापार रूपी व्यवहार करके बहुत धन इकट्ठे करते हैं और सामान के विना केवल धन मात्र लेकर अपने घर लौट जाते हैं। वैसे ही दार पुत्र आदि के साथ व्यवहार कर पुण्यपापरूपी पूंजी इकट्ठी कर मनुष्य उन दार पुत्रादि के विना ही उस कर्मरूपी पूंजी लेकर दूसरे जन्मों में जाते हैं ॥ ४९ ॥

लब्धं धनं तदपि पूर्ववदेव कष्टं
लब्धं च हर्म्यमथ चापि तथैव कष्टम् ।
लब्धानि शर्मजनकान्यखिलानि किन्तु
न ह्यन्तरं किमपि दृष्टिपथं प्रयातम् ॥ ५० ॥

धन मिला, तो भी कष्ट पहला जैसा ही रहा; महल मिला तब भी कष्ट वैसा ही रहा; सुख सामग्रियां अनेकानेक प्राप्त हुईं, किन्तु कोई अन्तर देखने में नहीं आया ॥ ५० ॥

तृष्णादूषिकया विदूषितदृशः प्रक्षाल्य चक्षुर्निजं
धीरं पश्यथ धीरियं छलयितुं येषां धनं वोऽधुना ।
तेषामेव भवान्तरे तनयतामापद्य विद्वेषिणः
स्वेषामेव भविष्यथ स्वजनितुर्दुःखेन दुःखं श्रिताः ॥ ५१ ॥

तृष्णा रूपी कीचर (नेत्र के मल) से दूषित नेत्र वाले हे मनुष्यों ! तुम अपनी चक्षु साफ कर एक क्षण के लिये धैर्य के साथ आगे देखो। छलकपट से जिनका धन हडप करने की तुम्हारी

लालसा हो रही है सो जन्मान्तर में उन्हीं का पुत्र बन कर तुम अपने ही शत्रु बन जाओगे। अतः अभी से चेत जाओ। अर्थात् तुमने अपनी छलकपट की कुशलता से उन का धन हडप कर भी लिया तो भी जन्मान्तर में उन्हीं के पुत्र बने तो अपने पिता के मुँह से सुनोगे कि अमुकने मुझे ठग कर कंगाल बना दिया था। तब तुम अपने पिता को ठगने वाले से द्वेष करने लगोगे जो स्वयं तुम ही पूर्वजन्म में थे और अपने पिता के दुःख से दुःखी भी बन जाओगे ॥ ५१ ॥

येषां शर्मणि पूर्वजन्मनि रता येषामचैषुर्धनं
येषामाननचन्द्रदर्शनसुखैरैन्द्रं सुखं न्यक्कृतम् ।
तानेव स्वपितृप्रतारणपटोर्जन्मान्तरे द्वेषतः
क्ष्वेडक्षुब्धभुजङ्गपुङ्गवसमानालक्षयन्ते सुतान् ॥ ५२ ॥

पुत्रप्रेम से दूसरों को ठगनेवाले दूसरे जन्म लेने पर उन्हीं पूर्वजन्मीय पुत्रों के महाद्वेषी बनते हैं यह बात बतायी जा रही है।

जिन के सुख के लिये तत्पर होकर पूर्वजन्म में दूसरों का वञ्चन किया, जिनके मुखचन्द्र का दर्शन इन्द्रसुख को भी नीचा दिखाता रहा, उन्हीं पूर्वजन्मीय पुत्रों को हालाहल (जहर) से भरे हुए भयंकर सर्पों के समान लोग देखने लगते हैं। कारण अपने पिता को उनके पिताने ठगा था और उनके पिता वास्तव में तो स्वयं ही थे ॥ ५२ ॥

यशोऽष्टकम् ।

निन्दन्तोऽवमसुद्वमन्ति गरलं यद्देशमुद्दिश्य ये
वार्धक्यं समुपेत्य चात्ययदिनं प्राप्ता अपीर्ष्याहताः ।

तं देशं हि भवान्तरेऽभ्युपगताः किंचिद्दिनाभ्यन्तरे
गर्हन्ते विपरीतरीति ननु को जानातु दैवक्रमम् ॥ ५२ ॥

यहां से आठ श्लोकों में बहुतरविद्वज्जनस्वीकृत यशोऽभिलाषा के औचित्य का दूषण करते हैं और उससे भी वैराग्य प्राप्त करना श्रेयस्कर सिद्ध करते हैं। इनमें पहले दो श्लोकों में यद्यपि यश का ग्रहण नहीं है तथापि अपने बडप्पन का अभिमान दूर करने योग्य बतलाते हुए प्रकारान्तर से यश का ही निषेध किया गया है।

कुछ लोग वृद्ध होने के बाद भी, अन्तिम दिन नजदीक आने पर भी ईर्ष्याद्वेषकलुषित होने के कारण दूसरे देशवालों की निन्दा करते हुए अंदर का जहर उगालते रहते हैं। किन्तु उनको यह मालूम नहीं है कि दो दिन के बाद क्या होने वाला है। उसी दूषित भावना के कारण उसी देश का चिन्तन करते हुए, "यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं, तं तमेवैति" इस न्याय से उसी देश में जाकर पैदा होते हैं, और थोडे ही दिन बाद विपरीत रूप से अपने ही पूर्वजन्मीय देशवालों की निन्दा शुरू करते हैं। भला दैवक्रम को कौन जान सकता है। कौन कहां जाकर पैदा होगा यह कौन जानता है। अतः देशप्रयुक्त दुर्भावना करना अनुचित[1] है ॥ ५२ ॥

यज्जातीयहृणीयया तुदथ तान् कृत्वा मतिं पाशवीं
तज्जातिं प्रतिपद्य पौर्वजनुषीं स्वीयां विनिन्दिष्यथ।

---

१ तात्पर्य यह है कि–गुजराती, मराठी, उत्तरी, दक्षिणी, बंगाली, बिहारी, हिन्दुस्तानी, अमेरिकन, जर्मन, जापानी इत्यादि विषम भावना से पारस्परिक द्वेष कलह करना सत्पुरुषों के लिये हेय है।

श्वाने वा श्वपचेऽथवा गवि च वा किं वा द्विजे पण्डिते
निर्व्याजं ननु संतनुध्वमनिशं दृष्टिं समां तद् बुधाः ॥ ५४ ॥

जिस जाति से घृणा रखते हुए पाशवी (पशुओं की) वृत्ति (बरताव) से उन्हें सताते हो, दूसरे जन्म में उसी जाति में पैदा होकर पूर्वजन्मीय अपनी ही जाति की निंदा करोगे। इसलिये हे पंडितों ! चाहे श्वान हो, चाहे श्वपच हो, चाहे गौ हो, चाहे पंडित ब्राह्मण हो; सब में निर्व्याज भाव से (मुंह से तो सभी कह सकते हैं, ऐसा नहीं, किन्तु विना कपट भाव) समान दृष्टि रखो[1] ॥ ४५ ॥

हंहो बंहिष्ठतृष्णा ! यशसि विशति यन्मानसं वः स नूनं
मोहो मध्याह्नतप्यत्तपनखरकरे वारिपूरं पिपासोः ।
एकं वा कल्पतां वः कथमपि च यशः कल्पमत्यल्पमेतत्
तत्पश्चात् कश्चनैतत् किमु वदत यशश्चारु गायेद्विपश्चित् ॥ ५५ ॥

अत्यन्त तृष्णा से युक्त हे मनुष्यों ! यश की प्राप्ति की तुम्हारी यह जो अभिलाषा हो रही है वह तो मध्याह्न काल में तपते हुए

१ तात्पर्य यह है कि आज भी बडे बडे पंडित भी, अपने को समदृष्टि घोषित करनेवाले संन्यासी भी शूद्र, भंगी और चाण्डालादि के प्रति घृणादृष्टि रखते हैं और उन्हें तुच्छ समझते हैं। साथ साथ अपने को सर्वोच्च सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं तथा शूद्रादि की उन्नति का सहन भी नहीं कर पाते हैं, उसके लिये शास्त्रवचन भी कहीं न कहीं से ढूंढ निकालते हैं। परन्तु वे लोग समदृष्टि-विधायक शास्त्रवचनों को धूल से ढँक देना चाहते हैं। यह उनकी महान् भूल है। शूद्राध्ययनादि के बारे में बादरि मत भी है और जैमिनि मत भी है। जो अधिक तार्किक होता है वह अपने अभीष्टमत को पुष्ट कर लेता है। अतः जो ईर्ष्याविद्वेषादि न होने देता हो और शास्त्रलभ्य भी हो उसी मत का अवलम्बन कर सर्वोन्नतिसाधन को हि अपनाना चाहिये। इसी आशय से "पौर्वजनुषीं निवनिन्दिष्यथ" इस प्रकार निन्दाकर्त्तृस्वरूपयोग्य मनुष्यशरीरधारी का विशेषोपादान किया गया है ॥

सूर्य के किरणों में जल पीने की इच्छा रखने वालों का मोहमात्र है। मनुष्य का यश हजार दो हजार वर्ष तक रह सकता है और कथंचित् एक कल्पपर्यन्त ही यश रह जाय तो भी यह कुछ भी नहीं है। दूसरे तीसरे आदि आगामी हजारों कल्पों में तुम्हारा यशोगान कौन करेगा ॥ ५५ ॥

केनापि प्रापि नास्मिन् किमु सकलहरिद्व्यापिनी कीर्त्तिवल्ली
विश्वस्मिन् पूर्वकल्पे सकलजनमनःकर्णपूर्णावतंसा ।
निस्तीर्णे कालतूर्णभ्रमणपरवशे कल्पकाले च तस्मिन्
किं कस्याप्यद्य पुंसः श्रवणसरणिमापद्यते तद्यशो वः ॥ ५६ ॥

पूर्व कल्प में सब के हृदय में और कानों में भूषणरूप से शोभायमान सकलदिगन्तव्यापिनी कीर्तिलता को इस जगत् में किसी ने प्राप्त नहीं किया होगा ? व्यासवसिष्ठादि के समान किसीने तो अवश्य ही प्राप्त किया ही होगा। किन्तु काल की तीव्रगति के परवश होकर उस कल्प के बीत जाने पर आज वह कीर्ति किसी के भी सुनने में आती है ?। पूर्वकल्प की कीर्ति का आज कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया है ॥ ५६ ॥

कोटीनां कोटिकोटिः पुनरपि च तथा जाग्रति ब्राह्मकल्पाः
यत्किंचिन्मात्रमेतद् यदपि च मनसा चिन्त्यते वोच्यते वा ।
इत्थं दीर्घातिदीर्घे सुमहति समये गीर्मनोऽगम्यदैर्घ्ये
यत्किंचित्कालभावं बत जगति यशः प्रार्थयन्ते महान्तः ॥५७॥

करोडों के करोड ब्राह्म कल्प होनेवाले हैं; बल्कि जो कुछ हम मन से सोचते हैं या बोलते हैं वह सब किंचिन्मात्र है, अर्थात् आदि और अन्तरहित काल में करोड या अरब कल्प कोई चीज ही नहीं

है। इस प्रकार अत्यन्त दीर्घातिदीर्घ महाकाल में, जिसकी दीर्घता मन और वाणी का अविषय है, थोडे दिन तक रहनेवाले इस यश के लिये महान पुरुष भी आशान्वित रहते हैं। दूसरों की तो बात ही क्या। यह तो अत्यन्त खेदजनक बात है ॥ ५७ ॥

वैदुष्या प्रागूजनुष्याऽऽनमितजनतया[1] दानशौण्डप्रकृत्या
छन्दोवृत्त्या जनानां क्वचन च निपुणच्छद्मभृत्याऽन्यथा च।
सर्वायुष्यप्रयत्नैर्जगति परिततं नाम जन्मान्तरे स्वं
स्वीयत्वेन स्वयं न स्मरति यदि तदीयत्वरूपेण केऽन्ये ॥ ५८ ॥

पूर्व श्लोक में एक कल्पतक या कुछ कालतक यश बना रहता है इस आशाय को रखते हुए यश की तुच्छता बतायी गयी। वास्तव में तो मृत्यु होते ही यश भी समाप्त है; कारण, दूसरा जन्म लेता है तो उस समय–पाण्डित्य से, जनता को झुकाने वाली अत्यन्त दानी प्रकृति से, लोगों के प्रति अनुकूल बर्त्ताव रखने से, कहीं पर चालाकी पूर्ण छलवृत्ति से और अन्यान्य नाना प्रकार से पूर्वजन्म में समस्त जीवनपर्यन्त किये गये प्रयत्नों से जगत् में चारों ओर फैला हुआ अपना नाम–यश जन्मान्तर में खुद ही जब अपना नहीं समझता तो दूसरों की बात ही क्या[2] है ॥ ५८ ॥

---

१ 'आनमिता जनता यया' इस विग्रह में वैदुषी या दानशौण्डप्रकृति का विशेषण समझना चाहिये। 'आनमितो जनो येन तस्य भावस्तत्ता तया' ऐसे विग्रह में लोगों को अपनी ओर झुकाने से ऐसा अर्थ होगा और इस अर्थ में यशःप्राप्ति का स्वतन्त्र साधनरूप में उसका ग्रहण समझना चाहिये।

२ उदाहरणार्थ– यह कल्पना करें कि तिलक और गांधी आदि बडे बडे नेताओं ने जन्मान्तर प्राप्त किया हो – किया ही होगा – तो आज वे बालक के रूप में अध्ययन कर रहे होंगे और यह भी पढ रहे होंगे कि तिलक, गांधी आदि

मोहध्वान्ताभिभूताः परममिह यशो मन्यमानास्तदर्थं
कुर्वन्त्यायुः समस्तं श्रममनवरतं कष्टसाध्यैरुपायैः ।
मृत्योः स्फीतं करालं तदनु च वदनं प्राप्य जन्मान्तरे तद्-
निर्वाप्यैव प्रयत्नं पुनरपि यशसे पूर्ववत् कुर्वते ते ॥ ५९ ॥

मोहरूपी अन्धकार से पीडित मानव इस संसार में यश को ही सर्वोत्कृष्ट मानते हुए तदर्थ सारा ही जीवन कठिन उपायों को भी अपनाते हुए श्रम करते हैं। और बाद में मृत्यु के विशाल एवं कराल मुंह में प्रवेश कर जन्मान्तर प्राप्त करते हैं। वहां पूर्वजन्म-संपादित यश को खतम कर के ही फिर से श्रीगणेशाय से लेकर यश के लिये प्रयत्न करते हैं, नया ही सिलसिला प्रारम्भ करते हैं ॥ ५९ ॥

अपारे संसारे धरणिरणुमानापि न पुन-
र्हृसिष्ठे तत्पृष्ठे प्रसरतु यशः किं किल ततः ।
तदीयांशे देशे तदवयवलेशेऽपि यशसः
प्रसारार्थं स्वार्थं विदधति कदर्थं परमहो ॥ ६० ॥

अनादि अनन्त महाकाल में थोडे समय के लिये होने वाला यश वास्तव में अतितुच्छ है यह पूर्व में बताया। अब अनादि अनन्त अपरिमित संसार में यह पृथिवी ही अत्यन्त छोटी है, ऐसी पृथिवी में भी थोडी सी जगह यश प्राप्त होना यह भी अतीव तुच्छ है यह बताया जा रहा है।

बडे बडे महापुरुष हुए थे। उनके अंदर ऐसी भी अभिलाषा होती होगी कि हमें भी तिलक, गांधी जैसे महान् बनना चाहिये। इस उदाहरण से यश की कीमत अपने लिये कितने दिन तक है यह स्पष्ट ही है। यदि वे मुक्त हो गये हों तो यश उनके लिये सर्वथा व्यर्थ ही हो जाता है।

"ऊर्ध्वं चोर्ध्वमनुष्य चोर्ध्वम्" इत्यादि पूर्वश्लोकानुसार यह संसार अपरिमित है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों से युक्त इस महान् संसार में यह पृथिवी तो अणु के बराबर है बल्कि उतना भी नहीं है। उसका पृष्ठ भाग तो और भी छोटा है। उस पर यदि यश का प्रसार हो भी जाय तो भी उससे क्या हो। पर, आश्चर्य की बात तो यह है कि पृथिवी के संपूर्ण पृष्ठ भाग पर भी नहीं, किन्तु उसके अंशरूपी देशमें और उसके भी लेशमात्र प्रान्त जिला आदि में ही यश को प्रसारित करने के लिये अपने परम स्वार्थरूपी परम पुरुषार्थ को लोग कदर्थित करते हैं (बिगाड देते हैं) ॥ ६० ॥

नो लब्धाशेषमायुस्तुदति निजसमभ्यर्थिनोऽपार्थयत्नान्
लब्धा लेशावमानान्मरणमतिरिणक्त्यात्मसंभावभाजाम् ।
लब्धाऽलब्धा च नित्यं व्यथयति सकलान्मानवान् या सदैवं
धिक् तां कीर्त्तिं तदीहाविनिहतजनुषो धिग्धिगस्मांश्च मुग्धान् ॥६१॥

अभिलाषा हो, किन्तु प्रयत्न करने पर भी प्राप्त न हो रही हो, तो जो सारी आयु दुःख का कारण बन जाती है और प्राप्त होने पर भी थोडे ही अपमान से जो आत्माभिमानियों के लिये मरण से भी बढ कर दुःख पहुंचाती है; इस प्रकार प्राप्त तथा अप्राप्त दोनों ही अवस्थाओं में जो मनुष्य को व्यथित करती है उस कीर्ति के लिये धिक्कार है और उस कीर्ति की इच्छा से जीवन को नष्ट करनेवाले मूढ हमें भी बार बार धिक्कार है।

इति वैराग्यमन्दाकिन्यां प्रथमा लहरी।



श्रीमङ्गलार्णव(प्रसिद्धकाशिकानन्द)यतिविरचिता

वैराग्यमन्दाकिनी

द्वितीया लहरी

रागाष्टकम्।

येनैव संसृतिभयं वयमाप्नवाम
कामं कुतोऽभयमगान्न जनो हि नो चेत्।
प्रेमाणमेतमनुरागपदं नुवद्भि-
र्हा वञ्चिताः कविजनैर्हि विवेकिनोऽपि ॥ १ ॥

जिस अनुरागरूपी प्रेम ही के कारण हम सभी ने संसारभय को प्राप्त किया; यदि ऐसा न होता, प्रेम से संसारभय निवृत्त होता तो कीडे मकोडे से ले कर ब्रह्मापर्यन्त सभी यत्किंचित् प्रेम रखने वाले ही हैं इस हेतु से आज तक सभी अभय को प्राप्त हो गये होते; उस अनुरागापरपर्याय प्रेम की स्तुति करते हुए, हाय! कवियों ने बडे बडे विवेकियों की भी आंखों में धूल डाली ॥ १ ॥

यो दारसोदरनिजात्मजगोचरो नः
प्रेमा स गोखरमुखेषु समानमानः।
तेनैव चेदभयमभ्ययते तदा स्युः
के वाऽत्र केवलपदादपहीयमानाः ॥ २ ॥

पति-पत्नी, भाई-भाई और पिता-पुत्रादि का पारस्परिक जैसा प्रेम होता है वैसा ही प्रेम पशुपक्षी आदि में भी समान प्रमाण से देखने में आता है। 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इत्यादि ब्रह्मसूत्रीय भाष्य में भी यह स्पष्ट है। कवि लोग इस प्रेम के सरस वर्णन से 'कान्तासंमिततयोपदेशयुजे' इस वचन के अनुसार लोगों को प्रेमका उपदेश करते हैं। परन्तु ऐसे प्रेम से यदि अभय पद की प्राप्ति होती है तो हम लोगों में कौन उस कैवल्यमार्ग से च्युत कहे जा सकेंगे ॥ २ ॥

नष्टो झषः स सलिलेन विना प्रकृत्या
नष्टः स चातकशिशुश्च विनाऽभ्रवृष्ट्या ।
नष्टा मुधैव सुधियो मनुजा विशिष्टाः
स्वेष्टेन रिष्टहृदयेन विना तु कष्टम् ॥ ३ ॥

अपनी प्रकृति के वशीभूत हुई मछली जल बिना नष्ट हो गयी, कोई बात नहीं; मेघवृष्टि के बिना चातकशिशु भी अपनी प्रकृति के ही कारण नष्ट हो गया उसमें भी कोई बात नहीं। ये बुद्धिमान् मानव अपने इष्ट किन्तु हृदयशून्य प्रिय के विना जो नष्ट हो गये यह तो बडे कष्ट की बात है। कारण मनुष्य प्राणियों में विशिष्ट है इनका जीवन मूल्यवान् है। इस प्रकार के नाश में कोई फायदा भी नहीं है ॥ ३ ॥

धन्याञ् झषान् विनिहतान् प्रियविप्रयोगात्
तद्योगतश्च शलभान् मनुजांश्च ताभ्याम् ।
कामं वदन्तु कवयो, नविनश्यतस्तु
धन्यान् वयं मनुमहे हृतरागपूगान् ॥ ४ ॥

बडे बडे कवि उन मछलियों को धन्य कहते हैं जो अपने प्रिय जलके वियोग होते ही मर गयीं; और उन शलभों को भी धन्य

कहते हैं जो अपने प्रिय दीपक के संयोग से मर गये; इसी प्रकार उन मनुष्यों को धन्य कहते हैं जो कदाजित् अपने प्रिय के संयोग में उनसे प्राणान्त दंड से संभावना होने पर भी मरने तैयार रहते हैं और मर भी जाते हैं, तथा प्रिय के वियोग में भी मर जाते हैं। परन्तु हम तो उनको ही धन्य मानते हैं जो रागरहित एवं अत एव नष्ट न होनेवाले हैं अर्थात् तत्त्वज्ञान से अपने स्वरूप में रह कर नाशसे बचे हुए हैं ॥ ४ ॥

किं तात निर्दयनिजप्रियचिन्तनात् स्वं
दन्धक्षि वक्षि च मृतिं गरलं बुभुक्षुः ।
प्रेम्णः परस्य फलमस्ति तदेतदेव
नो वक्षि चेत्तदपहाय भवेर्मुमुक्षुः ॥ ५ ॥

हे सुहृत् ! निर्दयी अपने प्रिय के चिन्तन से तुम अपने को बुरी तरह से क्यों जला रहे हो, मरना चाह रहे हो जहर खाना चाह रहे हो। अरे प्रेमका यही सब तो फल है जो तुम्हें अभी हो रहा है। अगर उसे नहीं चाहते हो तो उसे छोड कर मुमुक्षु बनो - मोक्ष की ओर प्रवृत्त हो जाओ ॥ ५ ॥

मोहो वैषयिकस्तु यो जगति तत्त्यागेऽसमर्थाः खलाः
युक्त्या तस्य समर्थनाय भगवद्भक्तिं पुरस्कुर्वते ।
प्रेमा स्वात्मनि यः क्रमेरपि परे सा तन्यमानेश्वरे
भक्तिर्जीवपरैक्यबोधवशगा सैषा क्व मोहः क्व च ॥ ६ ॥

जगत में विषयमोह जो स्वभावतः होता है, उसे छोडने में असमर्थ खल पुरुष उसका समर्थन करने के लिये युक्ति से भक्ति को आगे करते हैं; अर्थात् आज की भक्ति मोह का ही दूसरा नाम हो गया है। कारण भेदभाव में स्वीय और परकीय भावना आकर

बलात् स्वार्थ को लाती है। वस्तुतः आत्मा में जो प्रेम कृमियों का भी नित्य सिद्ध है वही जीवात्म-परमात्मैक्यज्ञान से परमात्मा में संक्रान्त होने पर भक्ति हो जाती है। भला, वह भक्ति कहां ? और मोह कहां ? ॥ ६ ॥

पुत्रादयोऽपि भगवत्तनुभावभावा-
स्तत्प्रेम भक्तिपदभाङ्न कथं पुनः स्यात् ।
इत्थं कुयुक्तिकलिता न कुतः स्मरन्ति
खं वायुमग्निमिति भागवतोक्तमन्त्रम् ॥ ७ ॥

पुत्र पत्नी आदि भी भगवान का ही शरीर है अतः उनमें प्रेम करना भी तो भगवत्प्रेम क्यों नहीं है, ऐसी कुत्सित युक्तिवाले " खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् । सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंचिदेवं प्रणमेदनन्यः " इस भगवतोक्त मन्त्र का स्मरण क्यों नहीं करते ? अर्थात् उनको समानभाव से आकाश वायु वृक्ष लतादि सब में प्रेम करना चाहिये। कुछ में प्रेम करना और कुछ में न करना यह तो गोखरादिसमानमान मोह है, प्रेम नहीं है ॥ ७ ॥

योऽयं रसो विषयतः परिलभ्यते त-
मेषोऽजिहासुरनवद्यमुदीरयन् सन् ।
हा वञ्चयामि कुमतिर्जगतीं स्वरक्तां[१]
धिक् तं रसं धिगपि मां कुमतिं च धिक् ताम् ॥ ८ ॥

जो यह रस विषयों से प्राप्त हो रहा है। उसको छोडने की इच्छा न होने से उसको निर्दोष बतलाता हुआ कुबुद्धि मैं रागयुक्त

१ स्वस्मिन् मयि रक्तामिति वा, स्वे धने रक्तामिति वा स्वीयेषु पुत्र-पत्न्यादिषु रक्तामिति वा स्वरक्तामित्यस्यार्थः ।

जनता की वंचना करता हूं। धिक्कार है उस रसको और मुझे धिक्कार है और मेरी उस कुत्सित बुद्धि को भी धिक्कार है ॥ ८ ॥

प्रेमदशकम्।

यामप्राप्यातिवेलं विलपति विरहव्याकुलः कामदून:
प्राप्तो हित्वा कदाचिज्जिगमिषति शतैराकुलः क्लेशजालैः।
प्राप्ताऽप्राप्तापि यैवं कथयति नितरां मानसं मानवानां
धिक् तां योषां धिगाहो स्मरशरमथवा धिग्धिगेतान् विमूढान्॥ ९ ॥

कामपरवश पुरुष जिसके प्राप्त न होने से विरह से (अभाव से) व्याकुल होकर विलाप करता है और प्राप्त होने पर सैकडों क्लेशों से तंग होकर कभी कभी जिसे छोड कर भाग जाने की इच्छा करता है; इस प्रकार प्राप्त तथा अप्राप्त दोनों ही अवस्थाओं में बहुत सी ऐसी जो नारियां मनुष्य का हृदय जलाया करती हैं धिक्कार है उनके लिये। अथवा उनको क्यों धिक्कारें, उस कामदेव के बाणों के लिये धिक्कार है। अथवा उसे भी धिक्कारना व्यर्थ है: मोहाक्रान्त मूढमति इन अपने ही लिये बार बार धिक्कार है ॥ ९ ॥

संदर्श्य प्रेमलीलामकुटिलहृदयान् हावभावप्रभङ्ग्या
व्यामोह्य क्वाप्यनक्षं निजविरहकृतेर्व्याकुलीकृत्य दक्षम्।
स्वायत्तान् नर्त्तयन्ति प्लवगपृथुकवत् पूरुषान् मोहनिघ्नान्
धिग् रामाः, धिक् च वामा, मनसिजमपि धिग्, धिक् च हृद्दुर्बलत्वम् ॥१०॥

सरल हृदयवालों को अपनी प्रेमलीला दिखलाती हुई हाव भाव भंगी से मोहित कर और कभी कभी अप्रत्यक्षरूप से चालाकी के साथ अपने बिरह से व्याकुलित कराकर मोहाधीन हुए पुरुषों को

अपने वश में कर के बंदरों के बच्चों के समान जो नचाया करती हैं इस प्रकार की कुछ नारियों के लिये, जो भोगैकपरायण हैं, धिक्कार है; उन कुटिलदृष्टियों को धिक्कार है; उस कामदेव के लिये धिक्कार है; और हृदय की उस दुर्बलता के लिये भी धिक्कार है ॥१०॥

उद्भिन्नत्पञ्चबाणप्रखरशरहताः प्रेम संदर्श्य दम्भात्
सर्वस्वं मे त्वमेवेत्यतिमधुरगिरा स्वीयपाशेऽभिपाश्य ।
कामं स्वीयं दुराशाः पिपुरति परतो दुर्गतौ पातयन्ते
धिग्धिग्दुष्पौरुषं धिग्धिगपि च मदनं धिग्धिगात्मार्जवं च ॥११॥

पूर्व दो श्लोकों में स्त्रीप्रेम की हेयता दिखायी गयी । इस श्लोक में पुरुषप्रेम[1] की भी हेयता दिखलाते हैं ।

कामदेव के उत्कट तीक्ष्णशरों से आहत हुए पुरुष दम्भ से (दिखावटी) प्रेम दिखला कर " मेरा सर्वस्व तुम ही हो " इस प्रकार अत्यन्त मधुर वाणी के द्वारा अपने पाश (चंगुल) में फँसा कर अपने कामवासना की पूर्ति करते हैं और उसको नरक में गिरा देते हैं । धिक्कार है ऐसे दुष्पौरुष को, धिक्कार है इस कामदेव को और बार बार धिक्कार है उस अपनी सरलता को ॥ ११ ॥

वक्त्रेऽसूर्क्ष्ये यदीये परिहरति दृशौ संदिदृक्षोर्नितान्तं
सर्वस्वं निर्घृणं निर्लुंठितमिव हठाद् बुध्यते बुद्धिरस्य ।
अङ्गान्यालिङ्गनेहाहठविघटनतो दन्दहत्यप्यजस्रं
धिक्तं प्रेमास्पदं धिग्धिगबलहृदयं प्रेम चाप्येव धिग्धिक् ॥१२॥

---

१ इस श्लोक को स्त्रीप्रेमहेयतापरक भी लगा सकते हैं । प्रथम अर्थ में 'दुष्पौरुष' का अर्थ दूषित पुरुषपना और दूसरे अर्थ में कमजोर धीरता समझना चाहिये । अन्य विशेषण स्त्रीपक्ष पुरुषपक्ष दोनों में बराबर है ।

[यहां से आगे के सभी श्लोक स्त्रीपुरुषसाधारण प्रेममात्र की हेयता बताते हैं। 'अयं जनः' इत्यादि अध्याहार करके कर्त्ता के रूप में स्त्री तथा पुरुष दोनों का यथायथ ग्रहण समझना चाहिये 'प्रेमास्पद' यह स्त्री और पुरुष दोनों के लिये समान शब्द है।]

प्रेमास्पद (पुरुष या स्त्री) का मुख जब दिदृक्षु (देखने की अभिलाषावाले प्रेमी की दृष्टि का परिहार करता है अर्थात् मुंह हटा लेता है उस समय प्रेमी (स्त्री या पुरुष) के हृदय में प्रतीति होने लगती है कि—हाय! मेरा सर्वस्व लुटा जा रहा है। तथा आलिंगन की इच्छा को हठात् विघटित करने से (तोडे जाने से) प्रेमी के अंग अत्यन्त जलने लगते हैं। धिक्कार है उस प्रेमास्पद को; धिक्कार है उस दुर्बल हृदय को और बार बार धिक्कार है उस प्रेम को भी ॥ १२ ॥

यस्याभावाद्[1] विलोलो विदलितहृदयः क्ष्मातले लोलुठीति[2]
दीर्घं निश्वस्य रोदित्यनवधि[3] विविधं दुर्विधिं भर्त्सयन्[4] सन्।
निर्लज्जं चाभि लोकान् हत इव विलपत्यातनोति[5] प्रलापं
धिग्धिक् प्रेमास्पदं धिग्धिगबलहृदयं प्रेम चाप्येव धिग्धिक् ॥१३॥

जिसके विरह में चंचल तथा विदीर्ण हृदय होकर मनुष्य जमीन में लोटपोट होता है; दीर्घनिश्वास लेते हुए विना अवधि दीर्घकाल तक रोता है, दुर्विधि (दुर्दैव) की नाना प्रकार से भर्त्सना करता है; निर्लज्ज होकर लोगों के सामने विलाप करता है, उस

१ यस्य जनस्य स्त्रियः पुरुषस्य वाऽभावात् विलोलश्च विदलितहृदयश्च जनः स्त्री वा पुरुषो वा इति योजना। एवमुत्तरत्र। २ लोलुठीमि ३ रोदिम्य ४ भर्त्सयामि ५ विलपाम्यातनोमि इति चत्वारः पाठाः साधवः।

प्रेमास्पद के लिये धिक्कार है; उस दुर्बल हृदय के लिये धिक्कार है उस प्रेम के लिये भी बार-बार धिक्कार है ॥ १३ ॥

यस्याऽऽलोलः प्रसादे प्रतिपलमनलं चिन्तया हन्त निघ्नः
स प्राप्योपेक्षते मामकरुणमथ, चानादरान्न्यक्करोति ।
यस्मै च व्याकुलोऽहं स तु मयि विमना व्याकुलश्चापरस्मै
धि ग्धिक् प्रेमास्पदं धिग्धिगबलहृदयं प्रेम चाप्येव धिग्धिक् ॥१४॥

जिसके प्रसाद के लिये मैं लालायित रहता हूं, प्रतिक्षण जिसकी चिन्ता से मैं पराधीन हो जाता हूं, वह मेरे पास स्थित होकर निर्दयता से मेरी उपेक्षा करता है और अनादर से मुझे नीचा करता है। जिसके लिये मैं व्याकुल हूं वह मेरे प्रति निर्मनस्क (नाराज सा) रहता है और दूसरे के लिये व्याकुल रहता है। धिक्कार है उस प्रेमास्पद को; उस निर्बल हृदय को और उस प्रेम को भी ॥ १४ ॥

निद्राहानी रजन्यां तनुपरिवलनं घूर्णनं चाधिशय्यं
धारासारश्च दृग्भ्यां प्रियजनगमनामीक्षणं स्वप्नकाले ।
नेशध्यानं न जापो न च सुकृतकृतिर्नैव सत्तत्त्वचिन्ता
धिग्धिक् प्रेमाणमेनं क्षणिकविषयगं सर्वदुःखैकहेतुम् ॥१५॥

प्रियजन के वियोग से रात में निद्रा नहीं, बिस्तर पर पडे पडे करवट बदल रहे हैं; तंद्रा सी आती है; आंखों से आंसूकी धारा बहने लगती है; स्वप्न में प्रियजन का मिलन दीखता है। भगवान् का ध्यान नहीं; जप नहीं, सत्कर्म नहीं, और तत्त्वचिन्तन नहीं। समस्त दुःखों के एकमात्र हेतु क्षणिकवस्तुविषयक ऐसे प्रेम के लिये बार बार धिक्कार है ॥ १५ ॥

न ज्ञातेः क्षेमचिन्ता न च निजभरणे नार्थहानौ विवेको
न ह्रीरापद्यमाने लघिमनि च निजे भीर्न लोकापवादात् ।
नैवार्चा नापि पाठो न हृदि भगवतः संस्मृतिर्नात्मचिन्ता
धिग्धिक् प्रेम प्रजिह्माधमजनविषयं सर्वदोषैकबीजम् ॥१६॥

अपने ज्ञातिवाले-बन्धुबान्धवों के योगक्षेम की चिन्ता नहीं; अपने शरीर भरण की भी परवाह नहीं, अर्थहानि होने पर विवेक नहीं; लोगों के बीच में अपने हल्का होने पर लज्जा नहीं, लोकापवाद से भय नहीं अर्थात् ये होने पर भी दब जाते हैं और नहीं के बराबर हो जाते हैं (ईषदर्थे वा नञ्), भगवान् की पूजा नहीं; पाठ नहीं; भगवत्स्मरण नहीं; और आत्मचिन्तन नहीं । यह सब जिसके कारण हो रहा है, धिक्कार है उस प्रेम को जो कुटिल एवं अधम जनों पर हो गया है; सब दोषों का बीज है ॥ १६ ॥

हा हा यातश्चिराय क्व नु भरमपुनर्दर्शनाय प्रिय त्वां
वीक्षिष्ये किं कदाचित् किमहह समभूद् दुर्विधे किं न्वकार्षीः ।
संचिन्त्य प्रेतमेवं दहति विकलयत्यन्तरात्मानमार्त्तो
धिग्धिक् प्रेमाणमात्मप्रहणनमघजं नश्वरार्थानुबन्धम् ॥१७॥

हाय ! प्राणप्यारे ! फिर कभी दर्शन न हो ऐसे हमेशा के लिये कहां चले गये ? हे प्राणनाथ ! क्या मैं तुम्हें फिर कभी देख सकूंगा ? अहहा ! यह क्या हो गया । हे दुर्दैव ! तुम ने यह क्या किया ? इस प्रकार मृत प्रियजन को सोच कर लोग अपनी अन्तरात्मा को जलाते हैं, विकलित करते हैं । धिक्कार है इस प्रेमको जो महा पाप का फल है, नश्वर बन्धुओं में अनुबन्धित होता है, आत्महनन (आत्मपतन) का कारण है । [पूर्ववत् स्त्रीपुरुषसाधारण रूप से श्लोकार्थ समझना चाहिये] ॥ १७ ॥

प्रेमास्पदे पृणति[1] यद्ध्यमृतावभासं
तस्मिन्नुपेक्षयति च स्फुटकालकूटम् ।
तत् प्रेम संत्यजत रे मनुजा विदूराद्
यद्यात्मनोऽभिलषत प्रियमत्र कर्त्तुम् ॥१८॥

प्रेमास्पद जब प्रेमी के ऊपर प्रसन्न होता है—प्रेम करता है, तो जो अमृत के समान प्रतीत होता है; किन्तु उपेक्षा करता है तो साक्षात् कालकूट (भयंकर जहर) हो जाता है उस प्रेमको हे मनुष्यों ! दूर ही से छोडो यदि अपना आत्मकल्याण करना चाहते हो ॥ १८ ॥

प्रेमास्पदस्य यदि निर्दयतैकपक्ष-
पातोऽथवाऽन्यतरमन्ववहेलनं वा ।
तं प्रीणतोर्यदि परस्परभेदभावः
प्रात्यक्षिकोऽहह तदा नरकस्त्विहैव ॥१९॥

प्रेमास्पद के अंदर दया न हो या उस के दो या अधिक प्रेमी हो और एक के प्रति पक्षपात हो अथवा एक की अवहेलना (उपेक्षा) वह करता हो और उसके उन प्रेमियों में परस्पर भेदभाव या ईर्ष्या आदि हो तो प्रेमी के लिये प्रत्यक्ष नरक यहीं पर है ॥ १९ ॥

दोषदशकम् ।

नो दृष्टः कोऽपि मर्त्यस्त्रिभुवनजठरे सार्वलक्षण्यलक्ष्यो
नो देही कश्चिदेव क्वचिदपि निहताशेषदोषो जगत्याम् ।
केनाप्यङ्गेन हीनः स्फुटपरिघटितश्चापि दोषेण केना-
प्येषोऽशेषोऽपि लोकः क्व पुनरनुपधिः प्रीतिराधीयतां तत् ॥२०॥

१ "प्रीणाति प्रयति द्वावप्यात्मनेऽवति तर्पति पृणाति प्रीणयति" इत्याख्यातकोशे ।

यहां से दस श्लोकों में नाना प्रकार के दोष दिखलाते हुए वैराग्यहेतु दोषदृष्टि करने योग्य कहते हैं।

तीनों लोकों में ऐसा कोई व्यक्ति देखने में नहीं आया जो संपूर्ण लक्षणों से युक्त हो और इस जगत् में ऐसा कोई देहधारी नहीं देखा गया जो समस्त दोषों से रहित हो। कोई किसी अंग से हीन है तो कोई किसी दोष से युक्त है। ऐसी अवस्था जब संपूर्ण लोक की है तब निश्छल वास्तविक प्रीति कहां की जाय? ॥ २० ॥

कश्चिद्भीमस्वरूपः प्रतिभयरदनश्रोत्रचक्षुःकरालः
कश्चिच्चातीव कालो यमभटवपुषः सारबोधानुकूलः।
कोऽप्यष्टावक्रगाथाप्रथितबुधवपुस्तत्त्वसाक्षात्त्वकारी
कोऽप्यन्यः क्षान्तिहारी महिषकपिखराद्यास्यरूपानुहारी ॥२१॥

कोई भयानक रूपवाला है; भयंकर दांत, कान और नेत्रों से कराल दीखता है। कोई ऐसा काला है कि यमराज के दूतों के शरीर के रहस्य को जानने में अनुकूल जान पडता है। कोई तो ऐसा है कि अष्टावक्र की कहानी के प्रख्यात शरीर तत्व को साक्षात्-कार करानेवाला है और कोई तो ऐसा है कि मनकी सहिष्णुता को बलात् खतम करता है—कोई भैंसे के जैसे मुंहवाला, कोई बंदर के जैसे मुंहवाला कोई गधा जैसे मुंहवाला है जिससे आखिर मनकी सहिष्णुता-धीरता टूट ही जाती है ॥ २२ ॥

नूनं माधुर्यभारं वहति वपुरिदं किन्तु दन्तास्त्वलक्ष्याः
सन्तोऽप्यन्यस्य तूच्चावचनतविनता दन्तुरश्चाऽपरोऽसौ।
गौरोऽयं चावटीटः पृथुतरविवरात्युग्रनासापुटोऽन्य-
श्शुल्कश्चान्यो विरोमच्छददृशिरपरः कोऽपि बैडालनेत्रः ॥२२॥

यह शरीर देखने में तो अत्यन्त सुंदर है, मधुर है, किन्तु इसके दांत गायब हो गये हैं और दूसरे के दांत होने पर भी ऊंचा-नीचा ठेढामेढा है। यह तीसरा ऊंचे ऊंचे दांतवाला है। यह आदमी गोरा है लेकिन इसकी नाक चिपटी हुई है और यह दूसरा है इसके नाक के द्वार हिसाब से बहुत अधिक चौडे हैं। तीसरे इसकी आंखें हमेशा गंदी रहती हैं; चौथे की पलकों पर रोम नहीं है पांचवां तो बिल्ली के जैसी आंखवाला है ॥ २२ ॥

सर्वाङ्गैश्चारुमूर्तिर्यदपि परमसौ काण इत्येष दोषो
नेत्रे त्वस्यातिरम्ये परमकचशिरस्त्वेन नो नेत्रशूलः ।
सर्वं चारुस्वरूपं तदपि बधिरता हन्त भिन्तेऽस्य चेतो
दन्तानामाणकत्वात् प्रहसितमधिकं शल्यतामस्य धत्ते ॥२३॥

यह सर्वांग सुंदर है लेकिन काना है इतना ही एक दोष है। इसके नेत्र तो सुंदर है किन्तु सिर में बाल एक भी नहीं है इसलिये आंखों के लिये शूल बना हुआ है। इसका स्वरूप तो सब प्रकार से सुंदर है लेकिन इसका बहरापन मनको तकलीफ दे रहा है, और इसके दांत खराब होने से उसकी हंसी हृदय में शल्य पहुंचा रही है ॥ २३ ॥

कश्चित् पादेन खञ्जः, कुणिरयमपरः, कोपि चात्यन्तदीर्घो
ह्रस्वश्चातीव सोऽयं, कृशतनुरितरः, स्थूलकायोऽपरश्च ।
कुब्जः कश्चिच्च, कम्प्रः, स्ववदनविवरादुद्वमन् पूतिगन्धिं
रोगैराक्रान्तदेहो, व्रणगलितवपुः, कोऽपि च क्षीणशक्तिः ॥२४॥

कोई पैर से लंगडा है; कोई हाथ से लूला है; कोई बहुत लंबा है कोई बहुत ही ठिंगना है, कोई बहुत पतला है, कोई बहुत स्थूल-काय है; कोई कुबडा है, कोई कांपनेवाला है, किसी के मुंह से

दुर्गन्धि हमेशा निकलती रहती है; किसीका शरीर हमेशा रोगसे पीडित रहता है, किसीका शरीर व्रणों से गलित हो रहा है; कोई शक्तिहीन है ॥ २४ ॥

भालो जैवातृकार्धश्चिकुरपरिकरश्चैव कालः कलापो,
भ्रूवल्ली मारचापौ, सरसिरुहदले लोचने, कुन्दहासः ।
सर्वाङ्गैः सुन्दरोऽसावपररतिपतिः, प्रज्ञया रासभस्य
भ्रातृत्वेनैष किन्तु व्यथयति नितरामक्षराऽसङ्गचशेषान् ॥२५॥

इसका ललाट तो चन्द्रमा का अर्ध जैसा है। बाल काला मयूरपंख ही है। भ्रुकुटी कामदेव के धनुष् है। नेत्र कमल के दो दल हैं। हास कुन्दपुष्प ही है। संपूर्ण अंगो से यह सुन्दर है, मानो यह दूसरा रतिपति - कामदेव ही है। लेकिन बुद्धि से यह गधे का भाई है, अक्षर से इसको भेंट नहीं है; इसी से लोगों के हृदय को दुःखाता है ॥ २५ ॥

रूपं साध्वेतदीयं कुलमपि विमलं साधु साध्वी च बुद्धि-
र्ब्रूते त्वेषोऽपशब्दं प्रतिपदमहितं कर्णरूक्षस्वरेण ।
एकोऽलीकं प्रजल्पत्यपवदति परं तर्जयत्यन्तराऽन्या-
नन्यो नित्यानुलापैर्भृशमिव शिरसः कल्पते पीडनाय ॥२६॥

इस आदमी का रूप भी अच्छा है, निर्मल कुल भी अच्छा है, बुद्धि भी सुंदर है, लेकिन बोलने लगता है तो गाली के बिना बात नहीं करता है कर्णकटु स्वर से बोलता है। यह दूसरा आदमी झूठ बोलनेवाला है; दूसरों की निंदा करता है, बीच में दूसरों को झिटकारता है। यह तीसरा आदमी दिन भर बोल बोल कर सिर खा जाता है ॥ २६ ॥

एकः सं शं विधत्ते शरशमयि वचः शाधु शाध्वेवमाह
श्लिष्टं चान्योऽभिधत्ते कथयति कुकुकुक्कुत्र यासि त्वतुत्वम् ।
ग्रस्तं मध्येऽर्थशून्यं बहु लपति परो हीनवाग्वैशदीको
ब्रूते चैको विकुर्वञ् जबगणनमिति क्लेशतः पाणिनीयम् ॥२७॥

एक आदमी ऐसा है कि 'स' को 'श' बोलता है 'सरस' की जगह 'शरश' तथा 'साधु' की जगह 'शाधु' ऐसा कहता है । दूसरा तुतलाकर बोलता है जैसे – 'क क कहां जाते हो तु तुं,' । तीसरा बीच बीच में खाकर बोलता है, निरर्थक कभी कभी बोला जाता है, वाणी अस्पष्ट रहती है । चौथा बिगाड कर बोलता है । 'ञ म ङ ण न म्' इस पाणिनीय सूत्र को 'ज ब ग ण न म्' बोलता है ॥ २७ ॥

रम्याङ्गोऽपि निरामयोऽपि बहुलं शिल्पेषु दक्षोऽपि च
प्रज्ञाभूतिरपि प्रभावमहितो वक्तापि दातापि च ।
एष क्रोधमहादवानलपृथुज्वालापराभावितो
दुर्वासा इति रुद्रमूर्त्तिरिति चाप्याभाष्यते लौकिकैः ॥२८॥

यह आदमी सुंदर शरीरवाला है, निरोग है, शिल्पकला में दक्ष है, अत्यन्त बुद्धिमान् है, प्रभावशाली है, वक्ता भी है दाता भी है । यह सब कुछ है लेकिन इसको क्रोध चढ जाता है तो कोई इसे दुर्वासा कहते हैं और कोई रुद्रमूर्ति बोलने लगते हैं ॥ २८ ॥

दृष्टं चैवं समस्तं जगदथ च कुतो मोहमापद्यते न-
श्चित्तं नो मन्महे तत् किमु दधति गुणाः सर्वतो वा बलिष्ठाः ।
सर्वं संक्षीयमाणं क्षणिकमिति महत्येव दोषे स्थितेऽस्मिन्
मन्ये मायैव तावज्जरयति सुमतिं सर्वथा दुर्वचा नः ॥२९॥

इस प्रकार संपूर्ण जगत् दोषदूषित देखा गया, फिर भी हमारा चित्त मोह को क्यों प्राप्त हो रहा है यह समझ में नहीं आता। क्या दोषों की अपेक्षा गुण अधिक बलवान् है? जिससे मोह हो रहा है। वस्तुतः सभी वस्तु क्षीण होनेवाली एवं क्षणिक है इस महान् दोष से कोई भी सांसारिक वस्तु खाली नहीं है। ऐसी अवस्था में यही मानता हूं कि यह अघटितघटनापटीयसी माया ही हमारी बुद्धि को बर्बाद कर रही है॥ २९॥

मोहदशकम्।

अहो मरुषु सेचनं मुहुरपामकार्षं श्रमा-
च्चिरं लवणवारिधौ मधु सुधीरमाक्षारयम्।
भृशं परिमलद्रवं शवकलेवरेऽलेपयं
परप्रणयमादधां हतमनःसु योषासु यत्॥३०॥

यहां से दस श्लोकों में विषयप्रेमकी हेयता दिखलाते हैं।

अहो! यह तो मैंने तर करने के लिये मरु भूमि में परिश्रम से बार बार जल सींचा; मीठा बनाने के लिये खारे समुद्र में बडी धीरता के साथ मधु डाला; सुगन्धित करने के लिये मृतक शरीर पर इत्तर आदि सुगन्धि द्रव्यों का लेपन किया जो कि प्रिया बनाने के लिये स्त्रीजन के साथ प्रणय (प्रेम) किया॥ ३०॥

अहो किसलयभ्रमादनलमेतमालिङ्गिषं
जरद्विषधरं गलेऽधरमहं स्रजो विभ्रमात्।
उदग्रगरलं सुधारसविपर्ययेण न्यपां
यदेव वनिताजनं समदधां प्रियाविभ्रमात्॥३१॥

अहो! मैंने नवपल्लव की भ्रान्ति से अग्निज्वाला को पकडा; माला के भ्रम से जहरीले पुराने सांपको गले में डाला, अमृतरस की

भ्रान्ति से भयंकर जहर को पिया, जो प्रिया के विभ्रम से स्त्रियों को ग्रहण किया। ३१ ॥

अहो रजतलोभतो झटिति शुक्तिकामादद्‌े
निचाय्य सिकताः सतैलमतितः समापीडये।
जवात् सलिलनिर्णयेन मृगतृष्णिकामन्वये
यदेव रमणीं भजे प्रणयिनीविपर्यासतः ॥३२॥

अहो! चांदी के लोभ से झट से सीपी उठा रहा हूं, तेलवाला समझ कर बालूको इकट्ठा करके पेल रहा हूं, जल समझ कर शीघ्रता से मृगतृष्णा (मरुमरीचिका) की ओर दौड रहा हूं जो कि प्रणयिनी की भ्रान्ति से रमणी का सेवन कर रहा हूं॥ ३२ ॥

चिनोति हिमवारणाय कपिरेष खद्योतकां-
स्तृषापहरणाय चूषति शिशुः स वन्ध्यास्तनान्।
श्रयत्ययमनातपाय हरिणो निजानातपं
सनातनसुखाप्तये च विषयान् निषेवामहे ॥३३॥

यह बंदर ठंढी दूर करने के लिये जुगनुओं को इकट्ठा कर रहा है, यह शिशु प्यास बुझाने के लिये बांझ के थनों को चूस रहा हैं, यह हरिण धूपसे बचने के लिये अपने खुद की छाया का आश्रयण कर रहा है (अपनी छाया देख कर उसी ओर देख रहा है) और हम निरन्तर सुख की प्राप्ति के लिये विषयों का सेवन कर रहे हैं॥ ३३ ॥

अपामहमपांपतेः सुखमपः पिपासावशा-
दधारयमगारधग्दहनहेतिशान्त्यै घृतम्।
अभार्षमपि दार्षदप्लवमहं तितीर्षुर्नदा-
नसेविषि च योषितश्च विषयांश्च तृष्णाकुलः ॥३४॥

मैंने प्यास के कारण समुद्र का जल बडे प्रेम से पिया; मकान पर लगी हुई आगको शान्त करने के लिये उस पर घी का सिंचन किया, बडी नदियों को पार करने के लिये पत्थर की नाव पर सवार हुआ और वासना तृष्णा पूर्तिके लिये विषयों का और स्त्रियों का सेवन किया ॥ ३४ ॥

कथं स्वरसि चातकि त्वमखिलाम्बुदानां पुरः
कथं भ्रमसि रे मुहुर्भ्रमरि सर्ववृक्षाग्रतः ।
कथं मृगयसे च हंसि वितथह्रदोपर्यधः
कथं च वद भीरु रौष्यविदितस्य पुंसः पुरः ॥३५॥

अरे चातकी ! तुम सब मेघों के सामने क्यों रो रही हो ? । अरे भ्रमरि ! जो दिखाई दिये उन सब वृक्षों के आगे क्यों भ्रमण कर रही हो ? अरे हंसि ! तुम झूठे सरोवरों के ऊपर-नीचे क्या ढूंढ रही हो ? अरे भीरु बालिके ! तुम भी इस अज्ञात अपरिचित पुरुष के सामने क्यों रो रही हो ॥ ३५ ॥

व्यथेत किमु षट्पदो नलिनि ते किलैकाहते-
स्तवापि लतिके वियोगवशतस्तरुः खिद्यताम् ।
श्रियं किमु विधुस्त्यजेत् कुमुदिनि त्वदेकाप्ययात्
तवापि किमु बालिके-वद पुमान् बहुस्त्रीप्रियः ॥३६॥

ऐ नलिनि ! भला एक तेरे नष्ट होने से भ्रमर को कहीं व्यथा होगी ? ऐ लते ! तेरे वियोग से वृक्ष कहीं खिन्न होगा ? ऐ कुमुदिनि ! तुम एक के खतम होने से चन्द्रमा अपनी श्री (शोभा) को छोड देगा ? ऐ बालिके ! बहुस्त्रीप्रिय पुरुष तुम्हारे वियोग से कहीं दुःखी होगा ? ॥ ३६ ॥

हता निखिलवैदुषी जडसभासु संख्यावतां
हताऽखिलमनस्विता खल-कृतघ्न-दुर्वृत्तिषु ।
हता सरलता तथा कुटिलघातुकेष्वात्मनो
हता प्रणयिता नृणां कठिनवज्रचित्तेषु च ॥३७॥

पंडितों की विद्वत्ता मूर्खों की सभाओं में मारी गयी। मनस्वियों की सारी मनस्विता खल (दुष्ट) कृतघ्न और दुराचारियों के सामने मारी गयी। उसी प्रकार सरलता कुटिल और हत्यारों के सामने मारी गयी और समस्त प्रेम वज्र के समान कठोर चित्तवालों के सामने मारा गया ॥ ३७ ॥

परोपकाराष्टकम् ।

पापानि दीनदलितोदरशोषणोत्था-
न्युन्मार्जितुं निजधनादयुतांशभागम् ।
दत्त्वोपकारमतुलं प्रथयन्ति केचि-
देषा परोपकरणाख्यविडम्बनेह ॥ ३८ ॥

यद्यपि लोक में परोपकार होता है, परन्तु ऐकान्तिक परोपकार अर्थात् अत्यन्त निःस्वार्थ परोपकार होना अतिकठिन ही नहीं बल्कि अशक्य जैसा भी है। अतः परोपकार मैं करता हूं ऐसी भावना-अभिमान न रखना चाहिये और उसके फल की भी अभिलाषा नहीं करनी चाहिये। मैं परोपकारी हूं ऐसे जगत् में प्रसिद्धि कराना तो दूर से ही त्यागना चाहिये इस बात को आठ श्लोको में बतला रहे हैं।

कोई ऐसे होते हैं कि दीनदुखियों का पेट शोषित कर इकट्ठे किये पापों को धोने के लिये अपने धनका दशसहस्रांश या लक्षांश

दूसरों को देते हैं और डिंढोरा पिटाते हैं कि मैंने बडा परोपकार किया। यही परोपकार नाम से आजकल फैली हुई विम्डबना है।

यद्यपि कुछ महान् क्रूर अमीर वर्ग तो इतना भी नहीं करते, एक पैसा भी दूसरों को देने से नट जाते हैं; उनकी अपेक्षा सहस्रांश या लक्षांश देनेवाले अच्छे ही होते हैं; किन्तु यहां पर विडम्बना कहने का तात्पर्य यह है कि तुम अगर कुछ करते हो तो दम्भ के बिना करो और यह समझो ही नहीं कि मैं परोपकार कर रहा हूं; इस से तुम्हारे इस दान की शुद्धि रहेगी; अन्यथा दान में भी अशुद्धि रहेगी। अतः अभिमान को दूर करना ही चाहिये ॥ ३८ ॥

विहाय दीनान् स्वयशोऽभिकामा महत्सु कुर्वन्ति परार्थभावम् ।
स एष लोकेषु विवर्त्तमानः परोपकारः परसंप्रतारः ॥ ३९ ॥

दीन जनता को छोड कर अपने यश की इच्छा से बडे आदमियों को धन देते हैं नेताओं को भेंट देते हैं। वास्तव में यह परोपकार तो परवंचन ही है। परवंचन का ही विवर्त्त आज परोपकार है। जैसे रज्जु का विवर्त्त सर्प मिथ्या है वैसे परोपकार भी मिथ्या हो गया है ॥ ३९ ॥

नेतृत्वमापादयितुं स्वकीय-मक्षुण्णभावं प्रथितं जनेषु ।
वदन्ति मुग्धेषु परोपकृत्यै समर्पितं नाम निजं शरीरम् ॥४०॥

अपनी नेतागिरी लोगों में अक्षुण्ण (स्थिर) बनाये रखने के लिये तथा प्रख्यात करने के लिये लोग मूढ जनता में यह प्रचार करते हैं कि मैं ने परोपकार के लिये अपना शरीर ही अर्पण किया है ॥ ४० ॥

निजप्रचाराय यशोऽर्थकामाः कृत्वा मनोमोहनभाषणानि ।
परोपकाराय धृतावतारान् निजान् समन्तात् प्रथयन्ति लोके ॥४१॥

अपने प्रचार के लिये; यश तथा अर्थ की प्राप्ति के लिये सुंदर सुंदर भाषण देकर कुछ लोग चारों ओर प्रचार करते हैं कि हम परोपकार ही के लिये अवतार लेकर इस लोक में आये हैं । ४१ ॥

गो - विप्र - साधुजन - निर्धनसेवनार्थ-
मर्थान् निचित्य नितरामनरालधीभ्यः ।
पुष्यन्ति कुक्षिमुदरंभरयोऽपरे स्त्र-
मेषोऽपरः शिवतरो[1] हि परोपकारः ॥ ४२ ॥

गौ - ब्राह्मण - साधु महात्मा - गरीब - दीन दुःखियों की सेवा के नाम से सीदे साधे लोगों से धन इकट्ठा कर कुछ पेटू लोग अपना पेट भरते हैं यह दूसरे प्रकार के मंगलकारी परोपकार है क्या ही सुन्दर परोपकार का तरीका है ? ॥ ४२ ॥

न चैहिकं नापि च पारलौकिकं
दधीचिवत्[2] कोऽपि विरागिणां वरः ।
व्यपेक्षमाणो निजमर्थमर्थविद्
भवेन्न वा नैव हि मन्महे वयम् ॥ ४३ ॥

न इस लोक में अपने कोई स्वार्थ की अपेक्षा रखता है और न परलोक में ही । इस प्रकार दधीचि के समान वैराग्यवानों में

---

१ पूर्वोक्तः शिवः अयं शिवतरः । शिवं तरति अतिक्रामतीति वा ।

२ पुराणों में दधीचि आदि एक दो महापुरुषों का नाम आता है जिन्होंने अपने किसी स्वार्थ के बिना ही परोपकार किया है । ब्रह्मलोक की प्राप्ति दधीचिके लिये निश्चित थी उस समय उन्होंने अपनी हड्डियां इन्द्र को दीं । स्वयं महान कष्ट का मुकाबिला किया । जंगली पशुओं ने चाट चाट कर उनका अस्थि-मात्रावशेष किया । आज ऐसा परोपकारी संभव है या नहीं यह तो निश्चय करना कठिन है ।

अग्रणी अर्थज्ञ कोई पुरुष हो सकता है या नहीं यह हम नहीं बता सकते ।। ४३ ।।

क्वचित्प्रभुत्वाय धनाय च क्वचित् क्वचिच्च मानाय भयादिना क्वचित् ।
क्वचिन्निजानन्दरसप्रपत्तये प्रवृत्तयो नाम भवन्ति देहिनाम् ।।४४।।

कहीं अपना प्रभुत्व जमाने के लिये या शासक बनने के लिये, कहीं धन की प्राप्ति के लिये, कहीं मान के लिये, कहीं बडों से एवं अपमानादि से भय के कारण और कहीं अपने निज आनन्द-रस की प्राप्ति के लिये; इस प्रकार मनुष्यों की प्रवृत्ति सर्वथा स्वार्थ से ही होती है ।। ४४ ।।

दृष्ट्वा स्फुटं निखिलमेव निजार्थहेतुं
श्रुत्याऽऽत्मकामघटनं परिबोधितोऽपि ।
एकान्ततोऽनुकथयन्[1] भुवनोपकार-
हेतुं स्वकं स्वयमहं परिवञ्चयामि ।। ४५ ।।

समस्त वस्तु आत्मार्थ ही है यह मैं स्पष्ट देखता हूं और **" न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति "** यह श्रुति भी आत्मार्थ ही सभी वस्तु प्रिय है इस बात का समर्थन करती है; फिर भी मैं लोगों के सामने यह कह कर कि 'मैं सर्वथा परोपकार करता हूं', अपने आपको धोखा दे रहा हूं ।। ४५ ।।

---

१ यहां पर – " एकान्ततः " इस शब्द का तात्पर्यार्थ यह है कि ऐसा तो परोपकार भी होता है; परन्तु अत्यन्त निःस्वार्थ परोपकार कहीं नहीं होता। इस लोक के नहीं तो परलोक के निमित्त, अन्ततः स्वात्मानन्दार्थ स्वान्तःसुखार्थ ही सब की प्रवृत्ति होती है। अतः अपनी ओर से मैं ऐकान्तिक परोपकार कर रहा हूं ऐसा सोचना उचित नहीं है। परमेश्वर की प्रेरणा से मैं कर रहा हूं यही सोचना अधिक शोभन है।

अनुतापाष्टकम् ।

बाल्यं विद्युत्समं न क्षणमिव विगतं लक्षितं यौवनस्या-
प्यर्धं यातं क्षणेन द्रवति च चपलं शेषभागोऽपि तस्य ।
आहन्तुं चान्तकालस्त्वरयति नितरां वृद्धभावेन सार्धं
नो वा पश्यामि पश्यन्नपि हतधिषणो देवमायाभिभूतः ॥४६॥

यहां से आठ श्लोकों में पश्चात्ताप के द्वारा जगत् की नीरसता दिखाते हैं ।

बिजली के समान चमक कर गायब होते हुए बाल्य को तो लक्षित ही नहीं किया; कैसे गया, क्या हुआ, कुछ पता ही नहीं लगा। आधा यौवन बीत गया सो भी वैसा ही क्षण भरमें चला गया। अब यौवन का शेष भाग भी अति तीव्रगति से भागा जा रहा है और बुढापे के साथ अन्तकाल भी आने की अतिशीघ्रता कर रहा है। यह सब देखता हुआ भी परमेश्वर की माया से अभिभूत एवं अत एव नष्टबुद्धि होकर नहीं देख रहा हूं ॥ ४६ ॥

ईशध्यानं विधातुं वपुरनुमनुते नैव मे दौर्मनस्याद्
ध्यायेयं वा कथंचित् तदपि नहि फलं किंचिदप्यभ्युपैमि ।
न स्थैर्यं याति चेतः प्रकुपितपवनव्याहताऽऽलोलशाखा-
नृत्यन्नालीकचञ्चच्चलदलदलवच्चञ्चलं किंचनापि ॥ ४७ ॥

दौर्मनस्य के कारण (मनकी मलिनता के कारण) भगवान का ध्यान करने के लिये तबियत नहीं करती। किसी प्रकार ध्यान कर भी लेता हूं तो भी उसका कुछ भी नतीजा देखने में नहीं आ रहा है—चित्त में कोई परिवर्त्तन नहीं हो रहा है। जोर की हवा की टकराहट से हिलती हुई शाखाओ में नृत्य करते हुए डंठलवाले

पीपल के चंचल पत्तों के समान निरन्तर अतिचञ्चल मेरा मन थोडा भी स्थिर नहीं हो पा रहा है ॥ ४७ ॥

त्यक्त्वा द्वित्रिक्षणेभ्यः परमखिलमथ क्वैव गम्यं मया स्या-
द्दीर्घायाह्ने न जाने न खलु कथयितारं च कंचिद्विलोके ।
अन्धं पश्यामि दृश्यं प्रतिभयनिभृतध्वान्तपूरं पुरस्ताद्
गात्रं मे त्रस्यतीदं विचलति च मनः कुर्वतोऽखर्वचिन्ताम् ॥४८॥

दो तीन क्षण के बाद समस्त वस्तुओं को छोड कर दीर्घकाल के लिये मुझे कहां जाना होगा यह मालूम नहीं हो रहा है; किसी बतलानेवाले को भी नहीं देख रहा हूं । आगे के दीर्घकाल की चिन्ता मैं करता हूं तो सामने भयंकर घोरान्धकार से युक्त काला दृश्य सामने दीख रहा है; मेरा शरीर त्रस्त हो रहा है और मन कांपने लगता है ॥ ४८ ॥

आमूलं भुवि नामितापि महता यत्नेन शाखावतां
शाखा क्षिप्रतरं कराद् विचलिता स्वस्थानमाक्रामति ।
इत्थं मूलमवापितापि च मतिर्ब्रह्मामृतं निर्मलं
त्यक्त्वा गच्छति वर्वणेव तरसा संसारजीर्यद्व्रणम् ॥४९॥

परिश्रम से जड तक झुकायी हुई वृक्षों की शाखा हाथ से छूटते ही अपने स्थान पर पहुंच जाती है इसी प्रकार अमृतस्वरूप निर्मल ब्रह्मरूपी मूल पहुंचाया गया मन भी उस ब्रह्म को छोड कर मक्खी के समान संसार रूप जीर्ण व्रण की ओर दौडता है ॥ ४९ ॥

संत्यज्यामलशीतलाऽपरिमितप्रत्यक्स्वरूपानुवा-
ह्यानन्दामृतसिन्धुमध्यवसतिं चेतोविसारी पराम् ।
विस्रब्धं ननु लेढुमिच्छति परिक्षुभ्यत्समीराऽऽहति-
भ्राम्यद्भीमदवानलोद्गतपृथुज्वालावलीं बालिशः ॥ ५० ॥

यह मन रूपी मूढ मछली निर्मल, शीतल, अपार और प्रत्यक्-स्वरूप को धारण करनेवाले आनन्दामृतसागर को छोड कर क्षुब्ध हवा के लगने से भ्रमण करती हुई दावानलकी महान् ज्वाला को निःशंक भाव से चाटना चाहती है ॥ ५० ॥

संस्नाप्यातितरां विपङ्कसलिले गाङ्गेऽथ वार्यामहो
यत्नेनापि निवेशितो न रहति स्तम्बेरमत्वं निजम् ।
अन्तर्वर्त्यपि धूम्रधूलिपटलं पृष्ठे स्वगोष्ठाद् बहि-
र्धृत्वा प्रक्षिपति स्वयं मुहुरयं चेतोद्विपश्चापलात् ॥ ५१ ॥

यह चित्तरूपी हाथी अत्यन्त निर्मल गङ्गाजल में नहला कर हाथीशाला में बडे परिश्रम से प्रवेश कराने पर भी अपना स्तम्बेर-मत्व – (धूली में रमण करने का स्वभाव) नहीं छोडता । वह अन्तवर्त्ती होने पर भी बाहर से धूल लेकर चपलता के कारण बराबर अपनी पीठपर डालता ही जा रहा है ॥ ५१ ॥

दण्डैराहतविग्रहोऽपि बहुधा संसारवीथीतले
नो यास्यामि कदाचनेति सुदृढं कृत्वा स्थितोऽप्याश्रवम् ।
दृष्ट्वा धावति पिण्डखण्डमभिको विस्मृत्य पूर्वस्थितिं
लाङ्गूलं परिचालयन्नसहनश्चेतोऽभिधानः शुनः ॥ ५२ ॥

डंडे से शरीर बहुत आहत (जखम) होने पर भी; इस संसार की गली में अब कभी भी नहीं जाऊंगा ऐसी दृढ प्रतिज्ञा करने पर भी, श्वान के सदृश यह मन टुकडा देखते ही पहले की बातों को भूल कर सहन न होने से पूँछ हिलाता हुआ दौड आता है ॥ ५२ ॥

इच्छन्तः सततं सुखानि विषयान् गृह्णन्ति दुःखात्मकान्
प्रेप्सन्तः प्रभुतां व्रजन्ति जनतां निघ्नां परेषां स्वतः ।

सार्वज्ञ्यं प्रतिलिप्सवो दधति तां विद्यामविद्यात्मिकां
तन्न ज्ञानसुखात्मकं प्रभु परं ब्रह्मामृतं गृह्णते ॥ ५३ ॥

मनुष्य सुख की अभिलाषा से दुःखरूपी विषयों को ग्रहण करता है। प्रभुत्व की इच्छा से स्वयं पराधीन जनता की शरण में जाता है (जैसे आजकल के नेतावर्ग)। सर्वज्ञता की इच्छा से आधुनिक उस भौतिक विद्या को ग्रहण करता है, जो स्वयं अविद्यास्वरूप है। ज्ञान, सुख, प्रभु एवं अमृत स्वरूप उस ब्रह्म को कोई भी अपनाता नहीं है ॥ ५३ ॥

अकिंचनताष्टकम्।

परिम्लानो मानो जनधनवितानोऽपि निरगाद्
गिरन्ती कान्ता सा गिरममितसन्तापहरणीम्।
स मे यातः शातक्रतवसुखदातापि तनयः
शरण्यं पुण्यं मे शुभकरसरण्यं तदधुना ॥ ५४ ॥

यहां से आठ श्लोकों में अपनी अकिंचनता दिखला कर उच्चभावना की ओर ले जाते हैं।

मेरा मान नष्ट हो गया; जन और धन की विशालता भी चली गयी; अपार संताप को दूर करनेवाली मीठी वाणी बोलती हुई वह कान्ता (पत्नी) भी आज नहीं रह गयी; इन्द्रसुख को देनेवाला वह मेरा पुत्र भी चला गया; अब मेरे लिये शरणदायी वह शुभकारी पुण्य अरण्य (जंगल) ही रह गया है ॥ ५४ ॥

न शक्तिर्नो नीतिर्न ललितकलाभ्यासपटुता
न लोके संमानो न खलु विपुलं वैभवमपि।
न च स्वैरं देशभ्रमणमपि वैराग्यमपि वा
कथंचिज्जीवामो वयमिह वृथा क्ष्वेडकमिवत् ॥ ५५ ॥

न बल है, न नीतिज्ञान है, न ललितकलाओं के अभ्यास की कुशलता है, न लोक में सन्मान है, न पुष्कल धन है, न स्वतन्त्र देशपर्यटन का ज्ञान है, यह सब न होने पर भी एक वैराग्य हो तो सभी गतार्थ हो जाते हैं, परन्तु वह भी नहीं है। हम तो विषकृमि के समान व्यर्थ ही इस संसार में जीवन धारण किये हुए हैं ॥५५॥

यं विश्वसिम्यहमतीव स वञ्चको मे
स्निह्यामि यं स विरतिं मयि संदधाति।
यं वेद्मि मामकजनं स जनोऽन्यदीयो
हा हा किमेव करवै मनवै ब्रवै वा ॥ ५६ ॥

जिस पर मैं विश्वास रखता हूं वह मेरी वंचना करता है। जिसपर मैं प्रेम करता हूं वह मेरे प्रति उपराम भाव रखता है। जिसको मैं अपना समझता हूं वह दूसरों का ही होता है। बडे कष्ट की बात है—मैं क्या करूं, क्या सोचूं और क्या बोलूं ॥ ५६ ॥

यं कामये निजमहं सुहृदं विधातु-
मुल्लापने स निरतो मम सर्वदैव।
यं वा प्रमोदयितुमिच्छति मानसं मे
मामेव हन्त विदधाति जनेषु मूढम् ॥ ५७ ॥

जिसको मैं अपना मित्र बनाना चाहता हूं, वह मुझे ठगने के लिये ही हमेशा तत्पर रहता है। मेरा हृदय जिस को आनंदित करने को चाहता है, हाय! वह तो मुझे लोगों के बीच मूर्ख बना रहा है ॥ ५७ ॥

यत्प्रेमपाशवलितोऽनुनयामि तस्य
सेवे तुतोषयिषया विकलीभवामि।

सोऽत्यन्तनिर्दयतया समुपेक्षते मे
न न्यक्कृतौ भवति संकुचितोऽपि लेशम् ॥ ५८ ॥

जिसके प्रेमपाश में बंध कर उसे संतुष्ट करने के लिये उसके सामने अनुनय विनय करता हूं उसकी सेवा करता हूं और व्याकुल रहता हूं वह अत्यन्त निर्दयता से मेरी उपेक्षा करता है और मेरा तिरस्कार करने में भी लेशमात्र भी संकोच नहीं करता ॥ ५८ ॥

स्वभावतश्चञ्चलमेव चेतः कुटुम्बचिन्ता पुनरामयश्च ।
कपेरिदं नाम सुरानिपानं ततश्च तद्वृश्चिकदंशनं च ॥ ५९ ॥

मन स्वभाव से चंचल है, तिस पर कुटुम्ब की चिन्ता, उस पर भी रोग। यह तो बंदर और उसका सुरा पीना और ऊपर से बिच्छू का डंग मारना जैसा ही है ॥ ५९ ॥

मानेन किं किमु बलेन नयेन किं वा
किं वा धनार्जनसभाजनकौशलेन ।
जातं न चेन्निजमनो हतरागपूगं
श्रीचन्द्रचूडचरणाम्बुजचञ्चरीकम् ॥ ६० ॥

मान, बल, नीति अथवा धनसंपादन की सराहनीय कुशलता से क्या प्रयोजन है अगर रागसमूहशून्य होकर अपना मन भगवान् चन्द्रचूड शंकर के चरणकमलों में भ्रमरस्वरूप न बना ॥ ६० ॥

कान्ताधनादीनि विहाय दिव्य-रूपाणि जग्मुर्विपिनं महान्तः ।
वयं मनोराज्यविनिर्मितान्य-प्यहो विहातुं न हि पारयामः ॥ ६१ ॥

दिव्यस्वरूप कान्ता और धनादि छोडकर महान् पुरुष जंगल चले गये। और हम तो मनोराज्य से कल्पित कान्ताधनादि को भी नहीं छोड पा रहे हैं, क्या आश्चर्य है ॥ ६१ ॥

विवेकाष्टकम् ।

नित्यानित्यविवेकनिर्मलमतिः सत्यैकतानस्थिति-
र्विज्ञाय क्षणभङ्गभङ्गि सकलं मिथ्यावभासं जगत् ।
कश्चिन्मुञ्चति रत्नकाञ्चनचयं रम्याणि हर्म्याणि च
मुग्धां स्निग्धविदग्धलोलनयनां कान्तां च कान्तारगः ॥६२॥

यहां से आठ श्लोकों में विवेक दिखाते हैं ।

नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक से निर्मल बुद्धिवाला और सत्यस्वरूप परमात्मा में निरन्तर संलग्न कोई ही मनुष्य सारे जगत् को क्षणभंगुर एवं मिथ्या समझ कर सोना, चांदी, रत्न, सुंदर महल और स्नेहभरी चतुर चंचल नेत्रवाली मुग्ध कान्ता को छोड देता है और अरण्यगामी होता है ॥ ६२ ॥

यातं क्व मुग्धमधुरांशुकटाक्षमालं
हा चन्द्रचारु मुखमित्यनिशं रुदन्तः ।
सिङ्घाण - घर्म - सृणिका - मल - मूत्र - गूथ-
पात्रं क्व यातमिति नैव रुदन्ति कस्मात् ॥ ६३ ॥

मुग्ध मनोहर कटाक्ष से युक्त चन्द्रसमान सुंदर वह मुख कहां गया हाय ! हाय ! इस प्रकार रोनेवाले ऐसा क्यों नहीं रोते कि बलगम, पसीना, लार, मल, मूत्र और पुरीष का वह पात्र कहां गया हाय ! हाय ! ॥ ६३ ॥

कस्मादेव सखे बिभेष्युपयतो दण्डोद्यतादन्तका-
देष त्वां भयविह्वलं करुणया नैवातुरं हास्यति ।
हृष्यन्तं प्रसमीक्ष्य कंचन न वाऽकालेऽयमापद्यते
न स्नेहो न दया यमस्य हि जने द्वेषोऽपि रोषोऽपि वा ॥६४॥

हे मित्र ! दण्डहस्त होकर आते दुष्ट यमराज से तुम किस लिये डरते हो। तुम्हें भयभीत तथा आतुर देख कर करुणा से यह छोड दें ऐसी बात कदापि नहीं हो सकती और कोई ऐसा हो कि यमराज के आने पर प्रसन्न होता है अत एव यमराज भी शीघ्र आ जाय ऐसी भी बात नहीं है। कारण यमराज के अंदर न किसी के प्रति स्नेह है, न दया है, न द्वेष है और न रोष ही है ॥ ६४॥

पान्थागारे वयमुपसृताः संसृतौ सर्त्तुकामाः
को वेक्षेत त्वरयति परं स्वस्य याने ह्युपेते ।
तत्रैकस्मिन् किमिति हि मुहुर्दूयसे संप्रयाते
काले तावत् तव समयति त्वं च नेक्षिष्यसेऽन्यम् ॥ ६५ ॥

हम संसार रूपी मुसाफिर खाने में यात्रा करने के लिये ही आये हैं। अपनी गाडी आ जाती है और चलने के लिये जल्दी करती है तो कौन दूसरे को देखेगा ?। ऐसी अवस्था में एक के जाने से किस लिये तुम दुःखी होते हो ?। तुम्हारा समय आवेगा तो तुम भी किसी दूसरे को नहीं देखोगे ॥ ६५ ॥

रे शारङ्गक मेषगामिनमिनं दृष्ट्वा कुतो रोदिषि
स्वातीमेष दयावशो न विगतां नूनं निवर्त्तिष्यते ।
नो वा वर्त्स्यति संनिपातिनि चिरं ग्रीष्मे महोष्मण्यसौ
कालेनामितशक्तिना जगदिदं सर्वं यतो यन्त्रितम् ॥६६॥

अरे दयनीय चातक ! तुम मेषराशी में पहुंचे हुए सूर्य को देख कर क्यों रो रहे हो। तुम्हारा यह रोना सुन कर बीती हुई स्वाती (नक्षत्र) में दयावश हो कर यह कभी लौट नहीं सकता। और यह भी निश्चित है कि आनेवाली ग्रीष्मऋतु में ही वह चिर काल तक नहीं रहेगा। कारण अपार शक्तिवाले काल ने सबको

नियन्त्रित कर रखा है। [सुख के बाद दुःख की घडी आती हुई देखकर रोनेवालों के प्रति यह अन्योक्ति है] ॥ ६६ ॥

भवन्त्वेते तावत् खरशरनिपाता विधुकराः
वसन्तः सन्तापं जनयतु महान्तं विरहिणाम् ।
वयन्त्वानन्दाख्यां परमपदवीं प्राप्य विपिने
त्रियामां नेष्यामः परमशिवनामप्रणयिनः ॥ ६७ ॥

विरहियों के लिये ये चन्द्रमा के किरण तीक्ष्णबाणों का संपात (गिरना) हो; वसन्तकाल महान् संताप का जनक हो, पर हम तो उसी वसन्त में उन्हीं चन्द्रकिरणों में आनन्द ब्रह्मपदवी पाकर परमेश्वरनाम के प्रेमी होकर (भगवन्नाम लेते हुए) रात्रियां बितायेंगे ॥ ६७ ॥

चौरोऽयं वञ्चकोऽयं निजजननिकृतः स्वीयकर्मालसोऽयं
द्यूतक्रीडाविनीताखिलरजनिरयं तापसाग्रेसरोऽयम् ।
इत्थं जल्पन्त्यनल्पं स्वमतिपरिणतेः सीम्नि लोका यथेच्छं
योगी चावृत्तचक्षुर्निहतमतिरयं ध्यानयोगे निषण्णः ॥६८॥

यह चोर है, यह वंचक है, यह कुटुम्बियों से तिरस्कृत है, यह कामचोर है, रात्रि में जुआ खेलने से यह सो रहा है, यह योगीश्वर है इस प्रकार अपनी अपनी बुद्धि की सीमा में ही सभी यथेच्छ नाना प्रकार से बोलते हैं और योगिराज तो अपनी इन्द्रियों को रोक कर और मन को वश में कर ध्यान योग में मग्न बैठे हैं ॥ ६८ ॥

गेयानि मञ्जुलविहङ्गमकूजितानि
गङ्गातरङ्गपवनो व्यजनायमानः ।

निर्भीकबालहरिणाः परिचारिणश्च
तद्योगिनां रिपुभयोज्झितराज्यमेतत् ॥ ६९ ॥

योगियों का यह शत्रुभयरहित राज्य है, जहां सुन्दर पक्षियों के कूजित (कल कल शब्द) ही गाने हैं; गंगातरंग से उडी हुई या टकराती हुई पवन पंखे के स्थान में है, भयरहित हरिणशिशु ही परिचारक (सेवक) हैं ॥ ६९ ॥

कालाष्टकम् ।

संसारसागररतान् परिबध्य माया-
ऽऽनायेन बृंहति कुटुम्बकटाहमध्ये ।
कालो[1] मुहुर्विरहशोकमहानलेन
संभर्ज्य भक्षयति पश्यत लोकमीनान् ॥७०॥

यहां से आठ श्लोकों में उस भयंकर काल का वर्णन करते हैं जो संसार से वैराग्य उत्पन्न कराता है।

संसारसागर में निश्चिन्त रहनेवाले लोकरूपी मछलियों को माया जाल से पकड कर कुटुम्बरूपी कढाई में विरह शोकादि भयंकर अग्नि से बार बार भूंजकर, देखो, यह महाकाल खाता जा रहा है ॥ ७० ॥

---

१ गीता में विश्वरूपदर्शन में अर्जुन भी कहता है– " **लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः । तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।** " अर्थात् सब ओर से प्रज्वलित मुखों से समस्त लोकों को ग्रास करते हुए चाटते जा रहे हो। हे विष्णो ! आपका तेज समग्र जगत् को तेज से पूरित कर तपा रहा है। फिर अर्जुन ने जब यह प्रश्न किया कि– " **आख्याहि मे को भवानुग्ररूपः** " यह उग्रस्वरूप आप कौन हैं ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं–"**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः** "–मैं लोकों का नाश करनेवाला

कोऽप्यद्य संप्रगतवानपरः परेद्युः
कोऽप्येकतो निरयतेऽपरतोऽपरश्च ।
इत्थं क्रमेण च कदापि कुतोऽपि वाऽमी
गन्तुं स्थिताः सकलदेहधराः पुरस्तात् ॥ ७१ ॥

कोई आज मरा, कोई दूसरे दिन, कोई इस ओर गया कोई उस ओर । अर्थात् " ब्रह्माण्डेष्वनुसंसरन्नगणितेषु " इत्यादि आगे आनेवाले श्लोक में बतायी गयी रीति से प्राणी एक लोक से दूसरा लोक एक ब्रह्माण्ड से दूसरा ब्रह्माण्ड इस प्रकार चलते ही रहते हैं । उनमें कोई प्राणी पूर्व की ओर चल पडा है और कोई पश्चिम दक्षिणादि दिशाकी ओर । इस प्रकार सभी देहधारी कभी किसी रास्ते से जाने ही के लिये तैयार हो आगे खडे हैं ॥ ७१ ॥

एते हि जीवशलभाः[1] सहसैव लोभात्
संसारदीपकलिकां परिरब्धुकामाः ।
धावन्ति तामभि समेत्य परिष्वजन्ते
हा हा पतन्त्यथ च केचिदितस्ततोऽन्ये ॥ ७२ ॥

वास्तव में यह संसार ही कालाग्निस्वरूप है । शलभ (फतींगा) के सदृश ये प्राणी संसाररूपी दीपज्वाला को आलिंगन करने की

---

१ गीता में भी बताया है– " **यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः । तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः** " — जैसे पतंग मरने के लिये अत्यन्त वेग से प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश करते हैं उसी प्रकार ये लोक अपने नाश के लिये अत्यन्त वेग से आपके मुंह में प्रवेश कर रहे हैं । यहां पर विश्वस्वरूप भगवान ही काल बतलाये गये हैं ।

इच्छा से लोभ के कारण सहसा उस ज्वाला की ओर दौड रहे हैं और उसके पास पहुंच कर एकदम आलिंगन कर रहे हैं। परन्तु हाय ! हाय ! कोई जल कर इधर पड रहा है और कोई उधर पड रहा है ॥ ७२ ॥

हैयङ्गवीनमसृणं कमलायताक्षं
कुन्देन्दुसुन्दरसमुज्ज्वलदन्तपङ्क्ति ।
कश्चित् क्षणं स्थितमिदं सुवपुः पुरस्तात्
हा हा जरागरलजर्जरितं क्षणेन ॥ ७३ ॥

नवनीत (मक्खन) के समान कोमल; कमलनयन, कुन्द-कुसुम तथा चन्द्रमा के समान धवल (सफेद) दन्त से युक्त होकर कुछ देर तक सामने यह जो सुंदर शरीर दिखाई पडा था, हाय ! हाय ! वही क्षण भर में बुढापेसे जर्जरित होकर विकराल हो गया (बुढापा आते देरी नहीं हुई) ॥ ७३ ॥

हे काल निर्दय विमर्दयितुं कथं त्वं
चेतः प्रवर्त्तयसि मूर्त्तमनोज्ञभावम् ।
अद्यानवद्यतरमैक्षिषि यत् प्रसूनं
श्वस्तन्निरस्तसुषमं ननु नेत्रपांसुः ॥ ७४ ॥

हे निर्दयी काल ! सौंदर्य के मूर्तस्वरूप को बर्बाद करने के लिये तुम अपने चित्त को क्यों प्रवृत्त कर रहे हो-क्यों निश्चित कर रहे हो। फलतः, आज अत्यन्त निर्दोष सुन्दर जिस फूल को देखते हैं, कल तक वही कान्तिहीन होकर नेत्र के लिये पांसु (धूल) हो जाता है अर्थात् देखनेवालों को कष्टकारी होता है। [यहां पर

फूल से सुंदर शरीर की अन्योक्ति एवं सुंदर वस्तु मात्र का उपलक्षण है] ॥ ७४ ॥

यस्मिन् पूर्वभवा मनोभवहता व्यापारयांचक्रिरे
चेतश्चञ्चलमिन्दुसुन्दररुचौ बालानने कोमले ।
तद्व्येतज्जरया निपीतमधुना दूराद्दृशोरध्वनो
हा कष्टं विकृताकृति द्रुतमपह्नोतुं समीहामहे ॥ ७५ ॥

चन्द्रमा के समान सुन्दर कान्तिवाले जिस बालानन (बाल या बाला के आनन = मुख) में पूर्वज कामपरवश होकर अपने चञ्चल मन को प्रवर्त्तित किया था अर्थात् उसी का चिन्तन करते रहे; वही (बालानन) आज जराजर्जरित हो गया है और हम अपनी दृष्टि से दूर हटाना चाहते हैं । कारण वह आज विकृतरूप हो गया है । [स्मरण रहे कि यही दशा अब के बालाननों की भी होनी है; अतः वृथा मोह कर चित्त को बर्बाद न करना चाहिये] ॥ ७५ ॥

अपनयत रे दूरान्मोहं मनोहरवर्ष्मणो
न खलु बहुलं काल स्थाता तदत्र यथेक्षितम् ।
स्मरत हृदये किंचित्कालादनन्तरभाविनीं
निपुणमतयो दुर्वारां तां कुपूयतदाकृतिम् ॥ ७६ ॥

अरे मित्रों ! सुंदर शरीर पर जो मोह तुम्हारा हो रहा है उसे दूर हटावो ! जैसे आज तुम इसे देख रहे हो वैसे यह बहुत काल तक रहनेवाला नहीं है । अपनी सूक्ष्म कुशल बुद्धि से उस विकृत-स्वरूप का भी स्मरण करो जो थोडे ही समय के बाद अवश्य होनेवाला है ॥ ७६ ॥

भो भो तिष्ठ सखे क्षणाय, शृणु मे, कस्मादकस्माद् द्रुतं
गच्छस्येव कदा नु दर्शनमतः पश्चान्निजं दास्यसे।
इत्युक्तोऽपरिवर्त्तितस्ववदनः कालोऽब्रवीन् मा स्म वा-
ऽऽशास्था दर्शनतो गतस्तु गतवान् कोऽहं सखा तावकः ॥७७॥

(जाते हुए काल से कोई कह रहा है-) ऐ ऐ मित्र ! ठहरो एक क्षण के लिये, मेरी बात तो सुनो, एकदम शीघ्रता से क्यों चलते ही जा रहे हो ? आगे आपका दर्शन कब होगा ?। ऐसा कहने पर अपना मुंह फिराये विना ही काल बोला-अरे अब मेरे दर्शन के लिये आशा मत रखो। जो मैं गया सो गया ही निश्चित समझ लो। मैं तुम्हारा कौन सा मित्र हूं ॥ ७७ ॥

इति वैराग्यमन्दाकिन्यां द्वितीया लहरी।





श्रीमङ्गलार्णव(प्रसिद्धकाशिकानन्द)यतिविरचिता

वैराग्यमन्दाकिनी

तृतीया लहरी

वैराग्यानुभवाष्टकम् ।

मिथ्यारूपं जगदखिलमालोकयन् भूरियाता
निर्वैराग्यं पथि विचरता स्वानुभूता विगेहे ।
प्रावृट्काले हिमगिरिगुहाग्रावपर्यङ्कगेहो
ध्यायेयं साद्भुतमपुनरावृत्तिकाः प्रावृषस्ताः ॥ १ ॥

यहां से सोलह श्लोकों में लेखक अपने वैराग्यानुभव को मूर्त्तरूप से दिखाते हैं।

बालक अवस्था है। क्षणिक वैराग्य से गृहादिसम्बन्ध छोड चुके हैं, किन्तु शीतोष्ण सुख दुःख में समभावना अभी नहीं हो पायी है। मार्ग में चल रहे हैं, कोई सहायक नहीं, विश्राम का कोई स्थान नहीं, वर्षा हो रही है, वस्त्र भीग गये हैं, शीत आक्रमण कर रहा है, शरीर कांप रहा है, रक्षा के लिये चारों ओर कातर दृष्टि से देख रहे हैं, सर्वत्र शून्यता दिखायी दे रही है।

× × × ×

काल तीव्रगति से चलता जा रहा है। अवस्था यौवन के मध्य-

बिन्दु को पार करने जा रही है। हृदय का भाव विशेष परिवर्त्तित हो चुका है। क्षणिक वैराग्य स्थिर वैराग्य के रूप में परिणत हो रहा है। किन्तु तीव्र वैराग्य अब भी दूर ही में स्थित है। किन्तु उस तीव्र वैराग्य की भी शीघ्र प्राप्त होने की आशा दीख रही है।

× × × ×

वर्षा हो रही है। आश्रमगृह में बैठे हैं। पूर्वक्त स्मरण हो रहा है। हृदय में उत्कण्ठा हो रही है:—

सारे जगत् को मिथ्यारूप देखता हुआ, वैराग्य बिना विचरते समय गृहशून्य मार्ग में पूर्वानुभूत उन बीते हुए वर्षाकालों को जो फिर लौट कर आने वाले नहीं हैं, हिमाचल की गुहाओं में बारिस के समय प्रस्तरखंड पर बैठ कर आश्चर्य के साथ स्मरण करूं ॥ १ ॥

निध्यायेयं[1] निहितमनसा प्रावृषं तां यदाऽपा—
मङ्गं जीर्णं मृदि मम युवत् क्षालयिष्यन्ति धाराः ।
काले याते पुनरभिनवा यासु नामापि लोका
नावैष्यन्ति प्रथितमपि मे प्रावृषस्ताश्च बह्वीः ॥ २ ॥

मैं उस वर्षाकाल का स्मरण करूं जो स्वल्प दिन में ही आने-वाला है जब कि जल की धारा मिट्टी में मिलते हुए मेरे जीर्ण अंगों को धोती रहेंगी और उन वर्षाऋतुओं का भी मैं स्मरण करता हूं जब कि समय बीत जाने से लोग, जो नये आयेंगे, मेरा प्रसिद्ध नाम भी नहीं जानेंगे ॥ २ ॥

---

१ निर्वर्णयति निध्यायत्यालोकयति पश्यति इस आख्यातकोशके अनुसार निध्यान का अर्थ देखना होता है। सामने ही मैं उस आगामी समय को स्पष्टतया देख रहा हूं ऐसा तात्पर्यार्थ है॥

निध्यायेयं तमपि समयं प्राणशून्यं यदैत-
न्नद्यां क्षिप्तं सलिलदलितं ह्यण्डजैः खण्ड्यमानम् ।
उद्यन्मांसं गलदवयवं दुःशकस्वत्वभावं
गात्रं हृष्यज्जलचरधनं हन्त संपत्स्यते मे ॥ ३ ॥

मैं उस समय का भी स्मरण करता हूं जब कि मेरा शरीर प्राणशून्य होगा, नदीं में फेंक दिया जायेगा, मछलियां खण्डित करेंगी, मांस ऊपर को उठा हुआ होगा, अंग गल रहे होंगे और प्रसन्न हुए जलचरों का धन बना हुआ होगा जिस में मैं ममता नहीं कर सकूंगा ॥ ३ ॥

इद मदीयं न तवेति मीनै-राकृष्यमाणं कलहायमानैः ।
गात्रं यदाऽनाथमिदं न शक्ष्ये द्रष्टुं क्व पातुं समयः स चैति ॥४॥

यह मेरा है यह मेरा है इस प्रकार कलह करती हुई मछलियां इस शरीरको अपनी अपनी ओर खेंचती रहेंगी। उस समय अनाथ बना हुआ यह शरीर इस प्रकार पडा रहेगा कि मैं उसे देख भी न सकूंगा। रक्षा तो कहां करूं। वह भी समय आ ही रहा है ॥ ४ ॥

ध्यायेयं तं कतिपयनिमेषोत्तरापत्स्यमानं
कालं यस्मिन् विगतममतं मामकीनं शरीरम् ।
भस्मीभूतं सुखमधिकरिष्यन्ति ते सारमेयाः
निःशङ्कं ये बहुतरमहो तर्जिताः स्पर्शमन्तोः ॥ ५ ॥

मैं उस सयम का स्मरण करता हूं जो थोडे क्षण के बाद ही उपस्थित होनेवाला है, जब मैं अपने ही इस शरीर में ममता न कर सकूंगा; राख बने जिस शरीर पर वे श्वान निःशंक अधिकार करेंगे जो स्पर्श के अपराध में दंड के भागी होते थे-जिन के छूने पर हम

उन्हें मारते थे वे ही कुत्ते इस शरीर के भस्म होने पर आनंदपूर्वक उस राखपर लेटेंगे ॥ ५ ॥

परप्रेम्णा गात्र त्वयि विपदुपेते हतमना
बहु क्लिष्टस्तुष्टः श्रियमपि तथा त्वय्युपगते ।
स कालस्त्वभ्येति क्वचन च विपन्नं भुवि यदा
पतिष्यस्युद्यास्याम्यपरिचितवत् क्वाप्यहमपि ॥ ६ ॥

हे शरीर ! तुम्हारे ऊपर विपत्ति आने पर प्रेम के कारण हत-मनस्क होकर मैं बडा दुःखी होता था और तुम्हें श्री-सुखसंपत्ति प्राप्त होने पर मैं अत्यन्त आनंदित भी होता था। परन्तु एक समय वह आ रहा है जब तुम पृथ्वी में कहीं पर महान् विपत्ति से ग्रस्त होकर पड जाओगे और मैं अपरिचित जैसे वहां से उठ कर कहीं अन्यत्र चला जाऊंगा–बाद में तुम्हें देखने तक के लिये भी नहीं आऊंगा ॥ ६ ॥

यथा वयं नः प्रपितामहादीन् पुरातनान् विस्मयतः स्मरामः ।
काले गते नोऽपि तथैव बाला यदा स्मरिष्यन्ति तमध्ययाम[1] ॥७॥

हम अपने परदादा आदियों का (जो बीत गये हैं) जब स्मरण करते हैं तो बडे ही आश्चर्यान्वित होते हैं कि वे भी पूर्वज हो गये थे। काल बीतने पर एक ऐसा भी समय आवेगा जब हमें भी इसी प्रकार आश्चर्य के साथ बालक याद करेंगे कि ऐसे भी कुछ हुए थे, उस समय का भी हम स्मरण करें ॥ ७ ॥

तमप्यहं कालमनुस्मरामि दीर्घं समेष्यन्तमवश्यमेव ।
स्मृतेः पथश्चापगतः शिशूनां नामावशेषोऽपि यदा न हि स्याम् ॥८॥

मैं उस दीर्घकाल का भी स्मरण करता हूं जो काल भी अवश्य

१ इक्स्मरणे लोडुत्तमबहुवचनम्.

ही आने वाला है जब हम शिशुओं के स्मरण में भी न रहेंगे। हमारा नाम भी अवशिष्ट न रहेगा ॥ ८ ॥

वैराग्योद्भावनाष्टकम् ।

सत्यैकाऽव्रणितव्रतः किल हरिश्चन्द्रो महीन्द्रो गतो
योऽजैषीद्दशकन्धरं जितसुरं सोऽपि प्रयातो दिवम् ।
इत्थं ह्येव महाबलाः स्मृतिपथं याता यदाऽनेकशः
के वा हन्त पिपीलिकोपमबलाः काले कराले वयम् ॥ ९ ॥

जिन का अखण्डव्रत एक सत्यमात्र था वे पृथिवीपति हरिश्चन्द्र इस पृथिवी को छोड कर चले गये। देवताओं को परास्त करने वाले दशमुख रावण को जिन्हों ने मारा, भगवदवताररूपी वे रामचन्द्र भी स्वर्ग सिधारे। इस प्रकार अन्य भी बडे बडे शक्तिशाली पुरुष जब इस पृथिवी को छोड कर चले गये तब चींटी के समान बल रखनेवाले हम इस कराल काल में कौन चीज है ॥ ९ ॥

क्वैतेऽजय्यबला भगीरथ-रघु-श्रीराम-भीष्मादयो
विश्वामित्र-वसिष्ठ-कश्यपमुखा योगीश्वराः क्वाधुना ।
सत्यः क्वैव मदालसा-द्रुपदजा-सीतानसूयादिकाः
सर्वे कालकरालवक्त्रचणकव्यापारसारं गताः ॥ १० ॥

अजेय बलवाले भगीरथ, रघु, श्रीराम और भीष्मादि आज कहां रह गये। विश्वामित्र, वसिष्ठ और कश्यपादि योगीश्वर आज कहां है। मदालसा, द्रौपदी, सीता और अनसूया आदि सतियां आज कहां रहीं। ये सभी काल के कराल मुखमें चने जैसे चबाये गये ॥ १० ॥

यातो मे प्रपितामहः कुलवहः स्वप्नायितश्चाधुना
यातश्चापि पितामहोऽभिचकमे यौऽसौ चिरं जीवितुम् ।

याता मे जननी तथैव जनको यान्त्येव चान्येऽप्यमी
कालेऽस्मिन् प्रसरत्करालवदने यातुं वयं च स्थिताः ॥११॥

कुल निर्माण करनेवाले मेरे परदादा आदि सदा के लिये गये, और आज हमारे लिये स्वप्न समान हो गये। चिरकालतक मैं जीवित रहूं ऐसी इच्छा रखनेवाले मेरे पितामह भी चले गये। मेरी माता तथा पिता भी इसी प्रकार चले गये और सदा के लिये गये। अब हम भी इस काल के फैलाये हुए भयंकर मुख में जाने के लिये तैयार हो कर खडे हैं ॥ ११ ॥

पुरातनास्त्वमिव न रेजिरे किमु
स्तनन्धया विरहितकामदूषणाः।
व्यधुर्न किं सुललितबालचापलं
क्व तेऽधुना क्व च हि तदीयकेलयः ॥ १२ ॥

जैसे तुम कामादिदोषरहित होकर अपने बचपन में रहे, माता का स्तन पीते रहे वैसे वे पूर्वपुरुष भी रहे होंगे कि नहीं? बालकों की चपल चेष्टायें उन्होंने भी की होंगी कि नहीं? अवश्य ही की होंगी। परन्तु आज वे कहां रह गये? और उनकी लीलायें कहां रहीं? ॥ १२ ॥

किमु स्मरस्यभिनवयौवनोद्भवं
तदीयमभ्यधिकमखर्वगर्वितम्।
कथाऽप्यहो श्रुतिपथमेति न स्फुटं
समस्य सा सरणिरियं पुरःस्थिता ॥ १३ ॥

वे पूर्वपुरुष युवा भी अवश्य हुए होंगे। उनके उस नव यौवन से उत्पन्न तत्कालीन महान् गर्व को इस समय तुम स्मरण करते

हो ! । अधिक क्या आज उनकी कथा भी स्पष्टरूप से सुनने में नहीं आती । यही स्थिति सब के सामने स्थित है ॥ १३ ॥

वायुर्वाति स एव शीतसुरभिर्भाति प्रमोदास्पदो
ग्लौराशारमणीललाटतिलकप्रख्यां परां सद्धत् ।
रात्रिः सैव स एव चापि दिवसस्ता वापयस्ते द्रुमाः
सर्वं वस्तु तदेव किन्तु गलितं हा बाल्यमेकं मम ॥१४॥

शीत सुरभि वायु उसी प्रकार चल रही है, दिशारूपी ललनाओं के ललाटतिलक की शोभा को धारण किये हुए आनन्दकारी चन्द्रमा भी उसी प्रकार प्रकाशित हो रहा है । वैसी ही रात्रि है, वैसा ही दिवस है, वे ही तालाब हैं, वे ही वृक्ष हैं, सभी वस्तु वैसी ही हैं; परन्तु हाय ! मेरा एक बाल्यकाल ही नष्ट हो गया ॥ १४ ॥

वायुर्वास्यति शीतमन्दसुरभिर्भास्यत्ययं चन्द्रमा
भास्यन्त्येव च तारका दिवि तथोदेष्यत्ययं चार्यमा ।
निर्याते शतहायनेऽद्यभवनीं स्वप्नायमानां स्थितिं
द्रष्टारस्तु भवेयुरस्मदपरे प्रख्यां नवां बिभ्रतः ॥१५॥

आज के समान ही शीत-मन्द-सुरभि वायु आगे भी चलेगी, यही चन्द्रमा आगे भी भासित होगा, आकाश में ये ही तारे उगेंगे, सूर्य भी यही उदय होगा । आज से एक सौ वर्ष बाद इन सब के बराबर होने पर भी, आज की स्थिति को, जो स्वप्नवत् होनेवाली है, देखने वाले हम से अलग ही होंगे, नयी चमक धारण किये होंगे । [तात्पर्य यह है कि सौ वर्ष बाद यह दुनिया पूर्णरूप से पलट जायेगी । आज के दिन जिसने जन्म लिया होगा सौ वर्ष के भीतर वह भी प्रायोनिश्चितरूप से इस दुनिया को छोड कर चला ही जायेगा] ॥ १५ ॥

ब्रह्माण्डेष्वनुसंसरन्नगणितेष्वेकैकशः कः प्रभु-
र्गन्तुं ह्यन्तमनन्तजन्मभिरपि काऽऽवृत्तिसंभावना ।
अप्रत्याशितनैजबान्धवपुनःसंदर्शनां तां निजां
निध्यायामि घनान्धकारजटिलां यात्रां क्षणान्तस्थिताम् ॥१६॥

ब्रह्माण्ड हजार या करोड नहीं, अपि तु अनन्त हैं। उन में एक एक में क्रमशः संसरण करता हुआ प्राणी, अनन्त जन्मों में भी पार नहीं पा सकता। लौट कर दुबारा-तिबारा आने की कथा तो दूर ही है, उसकी कोई संभावना ही नहीं है। अत एव अपने बंधुओं का पुनर्दर्शन तो अप्रत्याशित है (आशा के परे की चीज है)। उसी संसारयात्रा को, जो क्षण, दो क्षण के बाद ही हम करने के लिये प्रस्तुत हो कर स्थित हैं और जो घोर अन्धकारमय है, उसे मैं प्रत्यक्ष ही सामने देख रहा हूं ॥ १६ ॥

धन्याष्टकम् ।

धन्यास्त एव विचरन्ति निरस्तकामाः
सारङ्गसङ्गवलिताः कलितात्मभावाः ।
निश्चीय बन्धुजनपुत्रकलत्रमित्रं
त्वङ्गत्तरङ्गरयसङ्गतबुद्बुदाभम् ॥ १७ ॥

यहां से धन्याष्टक का प्रारम्भ है।

धन्य वे ही हैं जो समस्त कामनाओं को नष्ट कर हरिणों के संग में जंगल में विचरण किया करते हैं; जो आत्मभाव को दृढ कर बन्धु पुत्र मित्रादि को उठती तरङ्ग के वेग में दिखाई देनेवाले बुद्बुदों के समान क्षणभंगुर समझते हैं ॥ १७ ॥

धन्यास्त एव सदृशं सजलाभ्रचारु-
सुभ्रूपरिभ्रममनोहरकोमलास्यम् ।

पश्यन्ति शोषपरिशोषितगण्डतुण्डं
वाह्यस्फुरत्सकलकीकसदारुणं च ॥ १८ ॥

वे ही धन्य हैं जो सजलमेघ के समान श्यामल भौंहों के भ्रमण से मनोहर एवं कोमल आनन को; तथा क्षयरोग से सूखे गालवाले, बाहर निकल आयी हड्डियों से विकराल मुख को एक समान देखते हैं ॥ १८ ॥

धन्यास्त एव निजहस्ततलोपधान-
विन्यस्तमस्तकधुरा गिरिकन्दरासु ।
सस्नेहसंगतकुरुङ्गसुकोमलाङ्ग-
संस्पर्शधूतशिशिरा निशि संविशन्ति ॥ १९ ॥

धन्य वे ही हैं जो अपने हाथ को तकिया का स्थान दे कर उस पर अपना सिर रख कर पर्वत की कन्दराओं में रात में लेटे हुए हैं। अनायास ही अनजान में ही स्नेह के साथ आ कर सटे हुए हरिणों के कोमल अंगों के स्पर्श से जिनकी ठंढी नष्ट हो रही है ॥ १९ ॥

धन्यास्त एव तुहिनाचलमन्दमन्द-
सौगन्धगन्धवहसन्ततसेव्यमानाः ।
निःशङ्कमङ्कगविहङ्गमपोतचञ्चु-
सञ्चल्यमानचिकुरा अपि निर्विकाराः ॥ २० ॥

धन्य वे ही हैं जिन्हें हिमाचल की मन्द मन्द तथा सुगन्धि के भक्त (सुगन्धियुक्त) पवन सेवा कर रहा है; निःशंक भाव से अंक (गोद) में आ कर छोटी पक्षियां बालों को अपनी चोंचों से हिला रही हैं किन्तु स्वयं निर्विकार हैं ॥ २० ॥

धन्यास्त एव शिशिरानिलकीर्यमाण-
पाथःकणव्रजकुणीकृतपाणयोऽपि ।

दृष्ट्वा क्षणान्तमनु भावितदन्तभाव-
मन्तर्निरुद्धमनसो निवसन्ति येऽद्रौ ॥ २१ ॥

धन्य वे ही हैं जिन के हाथ ठंडी हवा के लाये हुए जलकणों से ठिठुर रहे हैं, किन्तु कुछ क्षण के ही बाद, सूर्योदय होने पर, इस स्थिति का विनाश होनेवाला देख रहे हैं और परमात्मा में निरुद्धचित्त हो कर पर्वतों में रहते हैं ॥ २१ ॥

धन्यास्त एव निरलूयत मूलतो यै-
र्मानापमानपरिभावनभावना या
चाण्डाल एष विट एष मुनीन्द्र एष
योगीत्यनल्पजनजल्पविकल्पनासु ॥ २२ ॥

धन्य वे ही हैं जिन्होंने मान, अपमान और तिरस्कार की भावना को जड से उखाड फेंक दिया; जो कि यह चाण्डाल है, धूर्त है, मुनीन्द्र है, योगी है इत्यादि अनेक प्रकार की लोगों की बातें सुनते समय हुआ करती हैं ॥ २२ ॥

धन्यास्त एव सुखदुःखजयाजयेषु
न द्वेष्टि हृष्यति न रज्यति सज्जते च ।
लोष्टेषु हेमसु नितम्बवतीषु येषां
काङ्कालिकेषु शुनकेषु मतिः समाना ॥ २३ ॥

धन्य वे ही हैं जिनकी मति सुख, दुःख, जय और पराजय में न द्वेष करती है, न हर्षित होती है, न राग करती है और न आसक्त होती है; जो मिट्टी के ढेलों में, सोने में, सुन्दर ललनाओं में, अस्थिपंजरों में और श्वानों में समान भाव रखती है ॥ २३ ॥

धन्यास्त एव परिभावितभेदभावा
ब्रह्माद्वितीयमखिलेषु विलोकयन्तः ।
अज्ञानसञ्जननिबन्धनबन्धनानि
निर्धूय सन्दधति केवलभूमभूयम् ॥ २४ ॥

धन्य वे ही हैं जिन्होंने भेदभाव को दूर किया और सभी वस्तुओं में एक अखंड अद्वितीय ब्रह्म को देखते हुए अज्ञान के संग से उत्पन्न हुए बंधनों को तोड कर केवल भूमभाव को-ब्रह्मभाव को प्राप्त किया ॥ २४ ॥

शरीराष्टकम् ।

सौवर्णोऽप्यसवर्णरत्नजटितोऽप्यत्यच्छगेहस्थितोऽ-
प्यापूर्णः शकृता निपोऽसकृदसौ प्रक्षाल्यमानो जलैः ।
न प्राप्नोति पवित्रतामविरतं मन्त्राभिपूतैर्यदा
कङ्कालास्रवसान्त्रयन्त्रिततनोः कायस्य का वा कथा ॥२५॥

सुवर्ण से निर्मित क्यों न हो; विभिन्न वर्ण के रत्नों से जटित क्यों न हो और पवित्र घर में रखा हुआ भी क्यों न हो तो भी मलसे भरा हुआ बरतन, मन्त्र से अभिपूत (पवित्र) जलसे, बाहर बाहर, बार-बार प्रक्षालन करने पर भी (धोने पर भी) पवित्र जब नहीं होता तो यह मलपात्र शरीर क्या पवित्र हो सकता है ? जो सुवर्णादि-निर्मित भी नहीं बल्कि अस्थिपंजर, लोई, मेदा और आंतडी आदि स्वयं अपवित्र वस्तुओं से बना हुआ है ॥ २५ ॥

नित्यं मुञ्चति पूतिगन्धिमवमं यद् रन्ध्रतः सर्वतो
यत्संपर्कवशादुपैति वसनाद्याक्षालनीयां[1] दशाम् ।

---

१ आक्षाल्यतेऽस्यामिति बाहुलकादधिकरणे ल्युट् ।

यद्व्यस्तं च समस्तमेव नितरामस्पृश्यतामाप्नुयात्
तस्मिन् धीः श्वपचोऽशुचिः शुचितरो विप्रोऽयमेषासताम्[1] ॥२६॥

जो सब रन्ध्रों से (शरीर के छिद्रों से) हमेशा ही खराब दुर्गन्धि छोडता रहता है, जिसके संपर्कमात्र से वस्त्रादि धोने लायक हो जाते हैं; और जिससे अलग हुए नखरोमादि सभी अस्पृश्य हो जाते हैं उसी शरीर में असत् पुरुषों की ऐसी मति होती है कि यह श्वपच है अतः अशुचि है; यह विप्र है अतः पवित्र है ॥ २६ ॥

यत् स्पृष्ट्वा किल वैदिकासु विबुधाः स्नान्ति क्रियासु द्विजा
यद् दृष्ट्वा विमनायिताः पिदधते थूत्कृत्य नासां नराः ।
यस्मान्नास्त्यवमावमं त्रिभुवने नृणां हृणीयास्पदं
तस्येमं[2] परम निदानमबुधाः कायं शुचिं मन्वते ॥२७॥

जिसका स्पर्श होने पर पंडित लोग वैदिक क्रिया करने के लिये स्नान करते हैं, जिसको देख कर घृणा से थूंक कर नाक पकडते हैं, जिससे बढ कर अधमाधम घृणास्पद कोई वस्तु संसार में नहीं है उस (मल या पीप आदि) का एक मात्र परम कारण शरीर को मूढ लोग पवित्र मानते हैं ॥ २७ ॥

पक्वेषूर्ध्वमरुष्षु दीर्घकृमयः कस्मादुपायान्त्यमी
नूनं ते लघवो वसन्ति दुरपाकाराः शरीरे निजे ।
तेषामेव कलेवरं त्वयि हतेऽप्येषां स्थितेस्तन्मुधा
मा मा मामकमित्युपेहि ममतामोहौ हि तस्यां तनौ ॥२८॥

व्रण पक जाते हैं तो लम्बे लंबे कीडे जो ऊपर उठ आते हैं तो वे कहां से आते हैं? कहना होगा कि छोटे स्वरूप में वे अपने

१ सतामिति पदच्छेदे आश्चर्यमिति भावः ।
२ अत्र मलस्येतिपदानुपादानमतिबीभत्सतापरिहाराय ।

ही शरीर में रहते हैं जिनको कोई हटा नहीं सकता। वास्तव में यह शरीर तो उन्हीं का है कारण तुम्हारे नष्ट होने पर भी-जीवात्मा के चले जाने पर भी वे इसी शरीर में रहते हैं। इसलिये उस पराये शरीर में तुम यह मेरा है कर के ममता और मोह व्यर्थ में मत करो ॥ २८ ॥

यस्मिन् सत्यमलं कलेवरमिदं माता पिता सद्गुरु-
र्यद्यानेऽशुचि पूतिगन्धिमभितः क्रोशोत्तरं मुञ्चति।
योऽमेध्यामपि मेध्यतां गमयति श्लेष्मासृगादेस्तर्तिं
प्राणप्राणमकल्मषं[1] परमुपासीध्वं बुधास्तं सदा ॥२९॥

जिस के रहने पर यह शरीर शुद्ध माना जाता है, माता, पिता, गुरु आदि कहलाता है, जिसके जाने पर यह अशुचि हो जाता है और चारों ओर कोसों तक दुर्गंधि छोडता है और जो अपवित्र भी कफ और खून आदि को पवित्र करता है, प्राणों का भी प्राण, कल्मषहीन उस आत्मा की, हे बुद्धिमानों, उपासना करो ॥ २९ ॥

विभक्तानि केशासृगादीनि यस्मा–दपूतानि यद्योगकाले शुचीनि
तमात्मानमेकं विशुद्धस्वभावं वयं मन्महे पावनं पावनानाम् ॥३०॥

जिससे अलग होने पर केश, लोई आदि अपवित्र एवं जिसके संपर्क से पवित्र हो जाते हैं, उस विशुद्ध स्वभाव आत्मा को ही हम पवित्रों का भी पवित्र मानते हैं ॥ ३० ॥

१ छान्दोग्योपनिषद् में बताया है– "प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः" "अथ यद्यप्येनमुत्क्रान्तप्राणान् शूलेन समासं व्यतिषन् दहेत् नैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति"।

अमन्दं सौन्दर्यं निजवपुषि निर्वर्ण्य नितरा-
मखर्वं यद् गर्वं वहसि वयसा तद् विगलितम् ।
भवेद् दुःखायातस्तमिमपहायास्य परमं
निधानं स्वात्मानं परसुखनिदानं भज सखे ॥ ३१ ॥

हे मित्र ! अपने शरीर में अत्यन्त सौन्दर्य देख कर तुम यह जो महान् गर्व कर रहे हो, ऊमर बीतने पर वही नष्ट हो कर दुःख का कारण बनेगा । अतः उस गर्व को त्याग कर 'सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः' इस वचन के अनुसार सुन्दरता का निधान (खजाना) एवं सुख का कारण अपने आत्मस्वरूप परमात्मा का ही भजन करो ॥ ३१ ॥

गलितपलितमूलाद् रूपसौन्दर्यहानाद्
विरहमरणहेतोर्यस्य कायस्य दुःखम् ।
परिहरत ततः स्वं प्रेम सत्ये परात्म-
न्यनवधिसुखरूपे नित्यलब्धे विधध्वम् ॥ ३२ ॥

"अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं" इत्यादिरीति से अंगों के गल जाने के कारण, बालों के पक जाने के कारण, रूपसौंदर्य के नाश के कारण, विरह के कारण और मरण के कारण जिस काया को लेकर दुःख होता है उस स्वशरीर या प्रियतम के शरीर से अपना प्रेम हटाओ और इसके विपरीत–दुःख की जहां संभावना नहीं ऐसे असीम आनन्दरूपी, गलित पलित मरणादि की जहां संभावना नहीं ऐसे सदैकरस सत्यरूपी, विरह की जहां संभावना नहीं ऐसे स्वतः सर्वदा प्राप्तरूपी एवं सौंदर्यहान्यादिसकलदोषसंभावना जहां नहीं ऐसे पर-परम-सर्वोत्कृष्टरूपी आत्मा में ही प्रेम करो। उस आत्मा को

पहचानो और संकीर्णरूप से होनेवाले इस समय के प्रेम को केवलात्म-विषयक बनावो ॥ ३२ ॥

अभिज्ञाष्टकम् ।

संसारकाननविहारिदुरन्तराय-
मत्तेभगण्डतलखण्डनचण्डपाणिः ।
काहं हरिः[1] सकलसत्त्वगुरुर्भुजङ्ग-
भीरुः किलोन्दुरुरिवोरुबिले निलीये ॥ ३३ ॥

संसाररूपी जंगल में निर्भय होकर विहार करनेवाले अन्तराय (विघ्न-पाप-दुःख) रूपी दुष्ट एवं मदमत्त हाथियों के गंडस्थल को फाड डालनेवाले भयंकर चण्ड हाथों से सुशोभित एवं सकल सत्त्व (प्राणी या जानवरों) का गुरु (नेता या श्रेष्ठ) हरि (परब्रह्म या शेर) हो कर भी मैं कहां अब चूहा बन कर सांपों के डर से बिलों में छिप रहा हूं ॥ ३३ ॥

संसारगह्वरनिरन्तरसंपरीत-
घोरान्धकारहरतिग्मकरप्रचारः ।

१ " **अहं ब्रह्मास्मि** " " **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि** " " **नरो नारायणो भवेत्** " इत्यादि श्रुतिस्मृतियां हम वास्तव में ब्रह्मस्वरूप हैं हरि-स्वरूप हैं यह बतला रही हैं। और " **ब्रह्मास्मि प्रभवोऽस्म्यहं सर्वलोक-गुरुश्चास्मि** " यह श्रुति सकलसत्त्वगुरुस्वरूप बतला रही है। " **हरिर्हरति पापानि** " " **तरति शोकमात्मवित्** " इत्यादि वचन हरि को अन्तराय-प्रयोजकत्वादन्तरायस्वरूप पापों का हरण करने वाला बतलाते हैं। परन्तु यह जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझकर द्वितीयभावना के कारण " **द्वितीयाद्वै भयं भवति** " इस श्रुति के अनुसार द्वितीय से भयभीत हो रहा है, जैसे चूहा सांप से। यह अत्यन्त कष्टजनक बात है। हमें अपना स्वरूप समझकर " **अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि** " इस श्रुति के अनुसार अभय प्राप्त होना चाहिये।

क्काहं तमिस्रहरणो[1] द्युमणिर्दिवान्धो
मोहान्धतामसतमीषु परिभ्रमामि ॥ ३४ ॥

संसाररूपी गह्वर (गुहा) में निरन्तर व्याप्त घोर अन्धकार को हरनेवाले तीक्ष्ण किरणों का प्रसारक, आकाश का मणि सूर्यस्वरूप मैं, कहां उल्लू बन कर मोहान्धकार से तामस (अंधेरी) बनी रात्रियों में घूम रहा हूं ॥ ३४ ॥

अप्यन्धकारिचरणाम्बुजतेपमान-
निर्यासपानभृतमानसराजहंसः[2] ।

---

१ " ज्योतिषां ज्योतिः " " **तस्य भासा सर्वमिदं** " " **यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्** " "**अहं मनुरभवं सूर्यश्च**" " **यदादित्य-गतं तेजः** " इत्यादि श्रुतियां आत्मा को प्रकाशस्वरूप बतला रही हैं। " **भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः** " " **ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितम्** " इत्यादि वचन अज्ञाननाश को बतला रहे हैं। परन्तु हम प्रकाश में ही अन्धे बने हुए हैं। " **नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते** " " **पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्** " और "**जायस्व म्रियस्व**" इस रीति इस संसाररूपी रात्रि में ही भटक रहे हैं। हमें इस माया के पडदे को हटा कर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥

२ " **हंसः सोऽहं परमात्मा** " " **हंसो जीव इति प्रोक्तः** " " **हंसः शुचिषत्** " इत्यादिवचन हमें हंसस्वरूप बतला रहे हैं। " **अर्चयन्ति तपः सत्यं मधु क्षरन्ति यद्‌भुवम्** " इत्यादि मन्त्रोक्त मधु का पान करना-ब्रह्मामृतास्वादन करना यही हंस की वृत्ति है। परन्तु " **जातं मृतमिदं देहं मातापितृमलात्मकम्** " " **ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत्** " इत्यादि श्रुतिस्मृति वचन में उक्त मलसदृश संसार के पीछे लग कर स्वयं कौआ बन गया है। श्रुति भी कहती है– " **भ्रमन्ति काका इव सूरयोऽपि** " इस काकवृत्ति को छोड कर पुनः उसी हंसवृत्ति को प्राप्त करना चाहिये ॥

क्वाहं समुत्सुकदृगद्य निनद्य चञ्च्वा
सञ्चालयामि करटो मलकिट्टकीटम् ॥ ३५ ॥

भगवान शंकरजी के चरणारविन्द से चूते हुए रस–मधु के पान से पुष्ट हुआ राजहंस हो कर मैं आज कहां कौआ बन कर उत्सुक दृष्टि से आवाज करता हुआ चोंच से मल के कीडों को कुरेद रहा हूं ॥ ३५ ॥

नित्योपलब्धनिजबोधसुखामृताब्धि-
मज्जद्घनोत्पुलकितापघनो जनोऽयम् ।
अस्रैरजस्रगलितैर्विरहादिहेतोः
क्व क्लेदयामि वदनं परिदेवनेन ॥ ३६ ॥

नित्यप्राप्त, निजबोधात्मक, सुखामृत के समुद्र में गोते लगाता हुआ, अत एव अत्यन्त पुलकित अंगोंवाला मैं विरहादि के कारण निरन्तर आंसू बहाता हुआ अपने मुख को गीला कर रहा हूं ॥ ३६ ॥

कन्दर्पदर्पपरिहारियमान्तकारि-
पादाब्जसन्ततमधुव्रततां विहाय ।
पर्येमि लेढुमृतितं मलवर्वणा सन्
निष्ठीवनं यदधरासवनामधेयम् ॥ ३७ ॥

कामदेव के दर्प को शमन करनेवाले यमान्तक भगवान् शंकर के चरणकमलमधुपानव्रत-भ्रमरपने को छोड कर मैं मल की मक्खी बन कर घृणित थूंक को चाटने के लिये इधर उधर भटक रहा हूं जिस का नाम अधरासव रखा है ॥ ३७ ॥

अस्पृष्टदुःखलवनित्यसुखोपभोक्त-
भावश्चिरन्तनचराचरचक्रवर्त्ती ।
संभ्रम्य तुच्छविषयश्वपचप्रतोल्यां
भिक्षाटनं पथि करोमि वराटकाय ॥ ३८ ॥

" शुभोऽस्मि शोकहीनोऽस्मि " इत्यादि श्रुति के अनुसार लेश दुःख से भी असंस्पृष्ट, नित्य सुख को भोगनेवाला, हमेशा का चराचर चक्रवर्त्ती, मैं आज तुच्छ विषयरूपी चाण्डालों की गली में घूम घूम कर रास्ते में दमडी के लिये भिक्षा मांग रहा हूं। श्रुति कह रही है–" अहमस्मि परश्चास्मि ब्रह्मास्मि प्रभवोऽस्म्यहम् । सर्वलोक-गुरुश्चास्मि " इत्यादि ॥ ३८ ॥

वैराग्यचण्डदवपावकलोलकीला-
निर्दग्धकण्टककदम्बकशुद्धमार्गे ।
आसुग्रपाशुपतचापगुणान्तपाणिः
कामादिदुर्बलश्रृगालकुलाद् बिभेमि ॥ ३९ ॥

वैराग्यरूपी महान् दावानल से जल जाने के कारण कंटक शून्य शुद्ध मार्ग में पाशुपतास्त्र हाथ में लिये हुए भी मैं कामादिरूपी गीदडों से डर रहा हूं ॥ ३९ ॥

नित्योऽपि निर्मलतरोऽपि विमुक्तरूपो-
प्यानन्दकन्दनिलयोऽपि निजप्रभोऽपि ।
मृत्योस्त्रसन् मलिनधीर्भवपाशितोऽज्ञः
कायं सुखाय विषयेषु परिभ्रमामि ॥ ४० ॥

नित्य, निर्मल, मुक्त, आनन्दघन एवं स्वयंप्रकाश भी मैं

मृत्यु से डर कर मलिनमति हुआ भवबन्धन से बन्धित एवं मूढ हो कर सुख के लिये विषयों में कहां भटक रहा हूं। अर्थात् मृत्यु से डरना फजूल है, क्यों कि नित्य हूं। मलिनधी होना अनुचित है, कारण निर्मलतर हूं। भवपाशित रहना ठीक नहीं है, कारण विमुक्त-रूप हूं। अज्ञ होना समुचित नहीं है, कारण निजप्रभ हूं। सुख के लिये विषयों में भटकना अन्याय्य है, कारण आनन्दकन्दनिलय हूं। "नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं" इत्यादि श्रुति भी इस बात को बतला रही है ॥ ४० ॥

निर्मोहाष्टकम्।

आत्मैवानन्दरूपः श्रुतिषु निगदितस्तस्य मात्रां भजन्ते
शब्दस्पर्शादिरूपाः कतिपयविषया वस्तुतोऽसत्यकल्पाः।
आनन्दं किन्तु तादृक्क्षणिकविषयतो मन्वते केचनेमे
मूढा वक्त्रव्रणोत्थं निजमिव रुधिरं सारमेयोऽस्थिलब्धम् ॥४१॥

आत्मा को ही आन्दस्वरूप श्रुतियों में बताया है। शब्द स्पर्शादि कुछ विषय उस आत्मानन्द की मात्रा को प्राप्त हो कर सुखरूप प्रतीत होते हैं, वास्तव में वे असत्यरूप हैं। किन्तु कोई मूढ उन्हीं क्षणिक विषयों से आनन्द की प्राप्ति मानते हैं, जैसे श्वान अपने मुह से निकले हुए खून को हड्डी से, जिसको वह चबा रहा है, प्राप्त मानता है ॥ ४१ ॥

ब्रह्मध्यानैकनिष्ठा निखिलविषयतोऽवाप्य वैराग्यभावं
विध्वस्ताशेषचेतःस्थितमलकलुषाः सर्वदा निर्विकाराः।
आनन्दं भूमरूपं दधति यमनिशं चेतसाऽगम्यरूपं
के वा व्याचक्षतां तं क्षणिकविषयसंमोहितानां पुरस्तात् ॥४२॥

एक ब्रह्मध्यान में हि स्थित, समस्त विषयों से विरक्त, अशेष मानसिक कलुषों से रहित एवं सर्वदा निर्विकाररूप से रहनेवाले महापुरुष मनवाणी का अगम्य जिस भूमारूपी आनन्द का हमेशा अनुभव करते हैं, उसकी क्षणिक विषयों में मोहित मूढों के सामने कौन व्याख्या कर सकता है ।। ४२ ।।

गङ्गातरङ्गरयधौतशिलातलेषु
शान्तेषु निर्जनलतावलिषूपविश्य ।
बाह्यादशेषविषयादपवृत्तचक्षु-
र्ध्यानं मुदा भगवतः करवै समायुः ।। ४३ ।।

शान्त, निर्जन लताकुंज में गंगा की तरङ्गों से धोये गये शिलातल पर बैठ कर बाह्य विषयों में आसक्तिहीन हो कर सानन्द भगवान् का ध्यान समग्र आयु करता रहूं ।। ४३ ।।

समुन्ने जाह्नव्या विमलपुलिनेषूपलतले
निविश्यौघोद्भूतं प्रणवरवतानं सुमधुरम् ।
मुदा शृण्वन् शृण्वन् निहतसकलस्वान्तकलुषो
भवन्नाम स्वामिन् शिवशिवशिवेत्येव कलये ।। ४४ ।।

भागीरथी गंगा के निर्मल पुलिन पर भीगे पत्थर पर बैठ कर प्रवाह से उत्पन्न प्रणवनाद के स्वरतान को सुनता हुआ कल्मषरहित हो कर हे भगवान् ! मैं आपका नाम-शिव शिव शिव यही जपता रहूं ।। ४४ ।।

कदा मे पल्यङ्को हिमगिरिगुहाग्रावशकल-
स्तथा पेयं गाङ्गं स्फटिकमणिसंशोभि सलिलम् ।

फलानि क्षुल्लानि द्रुमनिपतितानीष्टमशनं
समाधेरुत्थातुः प्रतिदिवसतोषाय भविता ॥ ४५ ॥

मेरे लिये, हिमालय की गुफाओं के अन्दर पडे हुए पत्थर ही पलंग, स्फटिकमणिसमान गंगाजल ही पेय वस्तु और वृक्षों से गिरे हुए छोटे छोटे फल ही खाने का पदार्थ समाधि से उठने पर जीवन के आनन्द के रूप में कब बनेंगे ? ॥ ४५ ॥

नो माता न पिता न बन्धुरपि नो जाया न वा सूनवः
कश्चित् कस्यचिदत्र गात्रमिदमप्यन्यस्य कालान्तरे ।
तस्मादेकमनन्तमद्वयपदं शम्भोः पदं केवलं
नित्यं चेतसि धारयध्वमनिशं निर्वाणसौख्यप्रदम् ॥ ४६ ॥

माता, पिता, बन्धु, पत्नी और पुत्रादि कोई किसी का नहीं है, अधिक क्या, कालान्तर में यह शरीर भी अपना न रह जायगा। इस लिये उस एक, अनन्त और अद्वय परमपद भगवान् शंकर के पदारविन्द को ही नित्यनिरन्तर हृदय में धारण करो जो मोक्षसुखदायी है ॥ ४६ ॥

अये गात्रात्यर्थं मदुपकृतिमस्वार्थमकृथाः
यतस्तथ्यं तत्त्वं जगति विदितं त्वत्करुणया ।
इदानीं सर्वस्मादुपनिहतरागो भुवनतः
कृतज्ञोऽयं त्वत्तः पुनरनुमतिं वाञ्छति यतिः ॥ ४७ ॥

ऐ मेरे गात्र ! तुम ने निःस्वार्थ भाव से मेरा बडा ही उपकार किया, जिस से मैं ने जगत् के अंदर का तत्त्व जाना । यह तुम्हारी ही करुणा है । इस समय मैं समस्त भुवनों से विरक्त हो रहा हूं । मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूं । अब तुम से अनुमति चाहता हूं ॥ ४७ ॥

क्षणान्ते तावन्नौ सहभव वियोगः सुनियत-
स्तदा शक्ष्यामि त्वां न खलु विनयं संप्रथयितुम् ।
क्षणे तस्मादस्मिन् विहितविनयस्त्वामनुनयन्
शिवामन्त्यामाज्ञामभिलषति तावद् यतिरसौ ॥ ४८ ॥

हे मेरे शरीर ! मेरे भाई ! कुछ क्षणों के बाद हम दोनों का वियोग अवश्यंभावी है और उस वियोग के समय (मरण समय) मैं आप से विनय कर न सकूंगा – मैं उस समय परवश हो जाऊंगा । इसलिये इसी क्षण विनय के साथ आप से अनुनय करता हुआ अन्तिम आज्ञा के लिये यह यति आपके सामने नम्र याचना कर रहा हूँ ॥ ४८ ॥

उपसंहारत्रिकम् ।

वन्द्या गन्धर्वविद्याधरविबुधवराः ! पन्नगाः ! किन्नराद्याः !
सस्नेहा बन्धवोऽवन्यबनलपवनव्योमसोमारुणाश्च ।
सन्तः ! सर्वे च लोका ! नतिरियमसकृत् साञ्जलेर्युष्मदङ्घ्रौ
स्रस्ताविद्यामहिम्नो मम भवदपुनर्मेलनं यानमेतत् ॥ ४९ ॥

वन्दनीय गन्धर्व, विद्याधर, देवतागण, नागदेवता और किन्नर आदि महानुभावों ! स्नेह रखनेवाले पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, चन्द्र और सूर्य आदि बन्धुओ ! सन्त पुरुषों ! एवं समस्त लोकों ! आप सब के चरणों में बद्धांजलि मेरे ये भूरिशः नमस्कार स्वीकार हो । अविद्या की महिमा आज दूर हो गयी है । मेरा यह अन्तिम प्रयाण है । आप लोगों से मेरी भेंट फिर न हो सकेगी ॥ ४९ ॥

घोरे संसृतिसागरे निपतितानुद्धारयन्ती जनान्
नाकादूर्ध्वमनन्तबोधपदवीमन्वावहन्ती शिवाम् ।

अन्तःसङ्गिमलान्यमङ्गलपदान्याक्षालयन्ती भृशं
शम्भोः सत्पदवाहिनी विजयतां वैराग्यमन्दाकिनी ॥५०॥

मन्दाकिनी-गंगा के समान वैराग्य अतिपवित्र है। शैत्य शान्ति प्रदान करता है। इतना अन्तर अवश्य है कि स्थूल मंदाकिनी समुद्र की ओर ले जाती है और समुद्र में डुबा देती है वैराग्य-मंदाकिनी संसारसमुद्र से उठाती है। स्थूल मंदाकिनी नीचे की ओर बहती है और वैराग्यमंदाकिनी स्वर्ग लोक से भी ऊपर उस ब्रह्मपदवी की ओर बहती है वा उस ब्रह्मपदवी तक मनुष्य को पहुंचाती है। स्थूलमंदाकिनी बाहर के मल को दूर करती है और वैराग्यमंदाकिनी अंदर के कामक्रोधादि मल को दूर करती है। शम्भु के सत्पद अर्थात् अधिष्ठान परब्रह्म में बहनेवाली या उस ब्रह्मपद को ले जानेवाली उस वैराग्यमंदाकिनी की जय हो ॥

यहां पर मन्दाकिनीपद का नदीमात्र या गंगामात्र अर्थ विवक्षित है। " मन्दाकिनी वियद्गङ्गा " इस कोश के अनुसार वियद्गङ्गार्थक मंदाकिनीपद का प्रयोग अधिक उत्कर्ष सूचित करने के लिये किया गया है। अत एव वैराग्यभागीरथी, वैराग्यगङ्गा इत्यादि शब्दों से रूपक नहीं दिया गया। अत एव ' शम्भोः सत्पदवाहिनी ' यह विशेषण भी स्थूल मंदाकिनी से वैलक्षण्य सूचित करता है। अर्थात् गंगा शिवजी के शिर पर रहती है। और यह चरणों में रह रही है। इससे निकृष्टता हो ऐसी बात नहीं है। कारण सिर पर चढ बैठना यह औद्धत्य--अनम्रता का सूचक है। एवं शम्भुभक्तों के लिये चरणवासिनी अधिक प्रसन्नतापादक है। दूसरा, शम्भु के चरणचिह्नों का अनुगमन करानेवाली यह भी उसका अर्थ है। शम्भु का पदानुसरण

करना अर्थात् निःस्पृह हो कर घूमना। " नहि स्वात्मारामं विषय-मृगतृष्णा भ्रमयति " इस में जो बताया गया है। स्थूल गंगा तो शम्भु को छुडा कर समुद्र में ले जानेवाली है। अतोऽपि शम्भुभक्तों के लिये प्रसन्नतापादक है। और सत्पद का सदधिष्ठान अर्थ भी है। शम्भु का भी परमाधिष्ठानपरब्रह्मवाहिनी होने से ब्रह्मवेत्ताओं के लिये भी प्रसन्नतापादक है। अतः यहां कोई दोष नहीं है।

' वैराग्यमन्दाकिनी विजयतां ' से वैराग्यरूपी मंदाकिनी की जय होना बतला कर वैराग्य की ही महत्ता बतायी गयी है। किन्तु साथ साथ वैराग्यमन्दाकिनी नामक इस ग्रन्थ की भी विजय-उत्कृष्टता इस शब्द से ध्वनित की गयी है ॥ ५० ॥

गाङ्गैर्मौक्तिकचारुभिः फणिफणादीप्यन्मणिद्योतितै-
रुद्यत्तुङ्गतरङ्गभङ्गविसृतैः सोस्रैः सहस्रैः कणैः ।
स्फीतश्यामजटास्फुरेरुडुरुचिं प्राप्तैरभि स्वर्धुनीं
सेन्दु ज्योतिरुपास्महे किमपि तत् खं ब्रह्म सन्मङ्गलम् ॥५१॥

शंकरजी के मस्तक में गंगा विराज रही है। ऊंची तरंगें ऊपर उठ रही हैं। उन तरंगों के भंग से चारों ओर हजारों कण बिखर रहे हैं। शीर्षस्थित सर्पों के फणाओं पर चमकती हुई मणियों से वे कण स्वयं प्रदीप्त-प्रकाशमान हो रहे हैं। उन कणों में मणियों का प्रतिबिम्ब पडने से वे स्वयं भी चारों ओर किरण फेंक रहे हैं। विशाल एवं श्यामल जटा पर दीप्यमान वे कण इस प्रकार शोभा पा रहे हैं कि मानो विशाल आकाश में मंदाकिनी की चारों ओर तारे चमक रहे हैं। इस प्रकार-मंदाकिनीस्थानापन्न गंगा से, आकाशस्थानापन्न

विशाल श्यामल जटा से, नक्षत्रस्थानापन्न दीप्यमान जल कणों से और स्वयं विद्यमान चन्द्रमा से " खं ब्रह्म " इस श्रुति के अन्तर्गत खं (आकाश) पद वाच्य, एवं स्वयं 'वरद परमं मङ्गलमसि' इत्यादि वचनलब्ध मंगलस्वरूप होने से " ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुः " इस वचन के अनुसार ब्रह्मपद वाच्य भी होने से " खं ब्रह्म " इस श्रुति के अर्थरूप, एवं वाचामगोचर, उस ज्योति की हम उपासना करते हैं ॥ ५१ ॥

इति श्रीमङ्गलार्णव(प्रसिद्धकाशिकानन्द)यतिविरचितायां
वैराग्यमन्दाकिन्यां तृतीया लहरी ।

समाप्ता चेयं वैराग्यमन्दाकिनी । शुभमस्तु ।



शुद्धिपत्रक

(छपते समय निम्ननिर्दिष्ट श्लोकों से ये मात्रायें

पृष्ठ	श्लोक	पंक्ति	अशुद्ध
१९	३९	१	समप्य
२२	४५	४	बद्धा मयैषा
२३	४६	४	प्रथित
४१	१६	१	नाथहानो
४१	१६	४	सवदोषैक
४८	३४	३	प्लधमह
४९	३६	१	किलकाहते-
५३	४५	४	स्वयमह
५८	५६	३	य वेद्मि
७६	१८	४	दारुण
८७	४४	४	कतय
८८	४७	२	तस्थ
९१	५१	२	सोम्रः

भूमिका

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध
९	६	वराग्यं
९	१८	खातकोदकः
९	२०	कामरना-
११	५ (नीचेसे)	मतिनव

अनुवादमें जो मुद्रणाद्यशुद्धि हुई है उसे स्वय
